ACKNOWLEDGEMENT

We sincerely express our gratitude to **"Teerthdham Manglayatan"** from where we have sourced **"Dhanya Muniraj Hamaare Hai Part-5"**.

"Teerthdham Manglayatan" have taken due care, However, if you find any error, for which we request all the reader to kindly inform us at info@vitragvani.com or to Info@Manglayatan.com **"Teerthdham Manglayatan"**

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

धन्य मुनिराज हमारे हैं

(मुनि जीवन की प्रेरक कथाएँ)

(खण्ड-5)

सङ्कलन एवं सम्पादन :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रकाशन सहयोग :
श्रीमती मणिप्रभा गंगवाल धर्मपत्नी भँवरलाल जैन गंगवाल
गोवाहटी, आसाम

प्रकाशक :
तीर्थधाम मङ्गलायतन
श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ
[मङ्गलायतन विश्वविद्यालय में आयोजित, श्री आदिनाथ जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के पावन अवसर पर (दिनाङ्क 16 से 23 दिसम्बर 2010) प्रकाशित]

ISBN No. :

न्योछावर राशि : रुपये 15.00

Available At -

— **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
Website : www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com

— **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,**
A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)

— **SHRI HITEN A. SHETH,**
Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,**
Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :
मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :
देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

'धन्य मुनिराज हमारे हैं' (खण्ड-5) कृति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस कृति में परम पूज्य दिगम्बर मुनिराजों के अन्तर्बाह्य वैभव को दर्शानेवाली 9 कथाओं एवं मुनिराज के समाधि प्रसङ्ग का अद्‌भुत सङ्कलन किया गया है। परम पूज्य दिगम्बर मुनिराजों के 108 जीवन प्रसङ्गों के प्रकाशन की योजना के अन्तर्गत यह प्रयास है।

यह तो सर्व विदित है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** अपने उद्‌भव काल से ही परम पूज्य तीर्थङ्कर भगवन्तों, वीतरागी सन्तों एवं पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा प्रचारित जिन-सिद्धान्तों को देश-विदेश में प्रचार-प्रसार करने हेतु प्रयासरत है।

वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत **मङ्गलायतन** पत्रिका का मासिक प्रकाशन उल्लेखनीय है। यह पत्रिका विविध विशेषाङ्कों के रूप में प्रति माह प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका के धन्य-मुनिदशा के 42 विशेषाङ्क प्रकाशित हो चुके हैं, जो अभी तक के इतिहास में एक अपूर्व उपलब्धि है।

प्रथमानुयोग में मुनिराज के अनेक प्रेरक प्रसङ्ग, कथाओं के रूप में उपलब्ध हैं, जिनका प्रकाशन चार खण्डों के रूप में किया जा चुका है। सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में उन पुस्तकों को जिस आत्मीयता से अपनाया है, उससे उत्साहित होकर यह पाँचवाँ खण्ड प्रस्तुत किया जा रहा है।

सम्पूर्ण विश्व को दिगम्बरत्व के गौरव से परिचय कराने के उद्देश्य से **तीर्थधाम मङ्गलायतन** परिसर में 'धन्य मुनिदशा' प्रकल्प का निर्माण किया गया है, जिसमें स्वरूपानन्दी वीतरागी मुनिराजों के अन्तर्बाह्य वैभव की ध्वनि एवं प्रकाश के माध्यम से जीवन्त प्रस्तुति प्रदान की गयी है। आज हजारों लोग प्रतिदिन

यहाँ पधारकर विश्व की इस अद्वितीय रचना का दर्शन कर दिगम्बरत्व के गौरव से परिचित होते हैं, साथ ही इस भ्रम का प्रक्षालन भी करते हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री मुनिविरोधी है। **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के प्राङ्गण में साधर्मीजनों के ये स्वर मुखरित होते हुए आप देख / सुन सकते हैं कि पूज्य श्री कानजीस्वामी तो सच्चे मुनिभक्त हैं।

मुनिराजों की अन्तरपरिणति, परीषहों की विषय परिस्थितियों में सुमेरुवत् अचल परिणति एवं मुनिराज की सङ्गति से जीवों को हुए आत्मलाभ की गौरव गाथाएँ, सम्पूर्ण प्रथमानुयोग में यत्र-तत्र उपलब्ध है, उनमें से कतिपय प्रसङ्ग विविध कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत ग्रन्थ में संग्रहीत कर प्रकाशित किये जा रहे हैं। इन कथा ग्रन्थ में जिन-जिन लेखकों द्वारा लिखित कहानियों का प्रकाशन किया जा रहा है, हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं। विशेष उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन जगत के सुप्रसिद्ध विद्वान पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर द्वारा लिखित जम्बू से जम्बूस्वामी कथानक को भी सम्मिलित किया गया है, तदर्थ हम आदरणीय पण्डितजी के विशेष आभारी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सङ्कलन एवं सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन (बिजौलियाँवाले) **तीर्थधाम मङ्गलायतन** द्वारा किया गया है।

प्रकाशन सहयोग के रूप में श्रीमती श्रीमती मणिप्रभा गंगवाल धर्मपत्नी भँवरलाल जैन गंगवाल, गोवाहटी (आसाम) द्वारा प्राप्त सहयोग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

सभी साधर्मीजन इन कथाओं के माध्यम से मुनिदशा की भावना प्रगट करेंगे – इसी आशा एवं विश्वास के साथ।

पवन जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन

सम्पादकीय

परम पूज्य वीतरागी दिगम्बर जैन सन्तों की गौरव गाथाओं को दर्शाता प्रस्तुत ग्रन्थ '**धन्य मुनिराज हमारे हैं**' (खण्ड-5) मुनिभक्त साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

चलते-फिरते सिद्धरूप मुनिराज की अन्तरपरिणति तीन कषाय चौकड़ी के अभावस्वरूप वीतरागता से ओत-प्रोत होती है, तो उनकी बाह्य मुद्रा अत्यन्त निर्विकार नग्न दिगम्बर होती है। मुनिराज के दर्शनों का सौभाग्य श्रावक जीवन का धन्य पल होता है और यदि उनको आहारदान का प्रसङ्ग अपने आँगन में बन जाए तो कहना ही क्या! इस प्रसङ्ग का भाववाही वर्णन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं -

'सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उसका रोम-रोम भक्ति से उल्लसित हो जाता है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक सन्त भगवान की भक्ति के लिये मैं क्या-क्या करूँ? किस-किस प्रकार इनकी सेवा करूँ! किस प्रकार इन्हें अर्पणता दूँ! - इस प्रकार धर्मात्मा का हृदय भक्ति से उल्लसित हो जाता है और जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिये पधारें तथा आहारदान का प्रसङ्ग बने, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आया... इस प्रकार अपारभक्तिपूर्वक मुनि को आहार देते हैं।'

पूज्य गुरुदेवश्री के इसी प्रकार के मुनिभक्तिपूर्ण 1008 वचनामृतों का सङ्कलन भी तैयार किया गया है, जो शीघ्र प्रकाशित होगा।

मुनि भगवन्तों का सम्पूर्ण जीवन आत्मसाधनामय होता है। उपसर्ग-

परीषह उनके पवित्र आत्मध्यान की परीक्षा का काल होता है। ऐसी विषम परिस्थिति में मुनिराज अपने ज्ञायकस्वभाव का उग्र अवलम्बन ग्रहण करते हुए प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करते हैं।

जिनागम का प्रथमानुयोग ऐसे ही स्वरूप साधकों की मङ्गल गौरव गाथाएँ प्रस्तुत कर हमें भी निरन्तर आत्म-साधना की प्रेरणाएँ प्रदान करता है।

अहो! मुनिराजों के जीवन के ये पवित्र संस्मरण हमारे चित्त में उन साधकों के प्रति भक्तिभाव तो जागृत करते ही हैं, हमें उस दशा की पावन भावना भी जागृत करते हैं।

अपने में उसी वैराग्य भावना को परिपुष्ट करने के पावन उद्देश्य से मुनि जीवन की 108 कथाओं का सङ्कलन कर 'धन्य मुनिराज हमारे हैं' कथा शृङ्खला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का प्रयास है। प्रस्तुत खण्ड में 9 कथाएँ एवं मुनिराज के समाधिमरण का प्रेरक प्रसङ्ग प्रकाशित किया जा रहा है। इस खण्ड में आदरणीय पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर द्वारा लिखित जम्बू से जम्बूस्वामी कथानक प्रस्तुत कर हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

इस कार्य के मूल प्रेरणास्रोत तो पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं उनके अन्तरङ्ग में व्याप्त मुनिभक्ति ही है। साथ ही पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त गुरुवर्य पण्डित कैलाशचन्द जैन अलीगढ़ की मङ्गल प्रेरणाएँ भी इस कार्य के प्रति निमित्तभूत हुई है। अत: मैं अपने परम उपकारी इन गुरुओं के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस कथा संग्रह में जिन कथाकारों द्वारा लिखित कहानियों का सङ्कलन किया गया है, उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। इस मङ्गल कार्य में प्रवृत्त होने से मुझे पूज्य वीतरागी सन्तों का अन्तरङ्ग जानने का अवसर प्राप्त हुआ है जो मेरे लिए एक अमूल्य निधि है।

अन्त में यही भावना भाता हूँ कि धन्य मुनिदशा का धन्य क्षण मेरे जीवन में भी आये।

देवेन्द्रकुमार जैन

तीर्थधाम मङ्गलायतन

अनुक्रमणिका

1.	वीतरागी सन्तों की अकारण करुणा	1
2.	सङ्गति कीजे साधु की...	13
3.	मत करो पाप का अनुमोदन	17
4.	पापी से परमात्मा	34
5.	क्षण भर में बदले परिणाम	40
6.	रत्नत्रय की उपासना	50
7.	सुबह का भटका	63
8.	जैसी करनी...., वैसी भरनी!	70
9.	जम्बू से जम्बूस्वामी	78
10.	शूरवीर मुनिराजों का समाधिमरण	142

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन साहित्य में

मुनिभक्ति के मङ्गल गीत

सिद्धपद के साधक–आराधक

सन्त तो अन्तर्मुख होकर सर्वज्ञपद को ग्रहण कराने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। सिद्धपद को साध रहे हैं, उन्होंने निज चैतन्यगृह में सिद्धों का सत्कार किया है और रागादि परभावों को दूर किया है। अहा! अनन्त स्वभाव की साधना करनेवाले सन्त–मुनिवरों की क्या बात! सम्पूर्ण स्वभाव को स्वीकार करनेवाली पर्याय भी अनन्तगुण के रस से उल्लसित होती हुई आनन्दरूप हो गयी है। अहा! अनन्तगुण से गम्भीर ऐसे चैतन्यतत्त्व को साधनेवाले जीव की दशा भी महा गम्भीर होती है।

हम भक्ति से वन्दन करते हैं

अहा! वे सन्त तो चैतन्य के निर्विकल्प शान्तरस का वेदन करनेवाले हैं, वहाँ उन्हें बाह्य विकल्पों की काँक्षा क्यों हो? वे परम निष्काँक्ष हैं। अन्तर में परमसुखरस के पान से जो स्वयं तृप्त हुए हैं, वे अब दु:खजनक विषयों की इच्छा क्यों करेंगे? — ऐसे परम नि:काँक्ष भाववाले जैन साधु होते हैं। सन्तों के ऐसे अतीन्द्रिय आनन्दमय चैतन्य–परिणमन को पहिचानकर, हम भक्ति से उनकी वन्दना करते हैं।

(- आत्मधर्म वर्ष 28, अंक 4 एवं प्रवचनरत्नचिन्तामणि, भाग-3, से साभार)

1

वीतरागी सन्तों की अकारण करुणा

अवन्ति देश में शिरोष नाम का एक छोटा सा गाँव था, जिसकी सुन्दरता तथा सुख-समृद्धि की स्पर्द्धा स्वर्ग को भी पराजित करती थी। वहाँ मृगसेन नाम का एक मछुआरा रहता था। एक दिन वह अपने कन्धे पर जाल लटकाकर मछलियाँ मारने के लिए शिप्रा नदी की तरफ जा रहा था। महाभाग्य से उसे मार्ग में यशोधर नामक मुनिराज के दर्शन हुए। अनेक राजा-महाराज जिनके चरणों की उपासना करते थे, उन मुनिराज के पास वस्त्राभूषण नहीं थे, परन्तु उनके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूपी अमूल्य रत्नों से विभूषित शरीर (ज्ञानशरीर) में से तेज किरणें निकल रही थीं।

मुनिराज को देखते ही मछुआरे के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न हुई। वह कन्धे से जाल को दूर करके मुनिराज के समीप गया और उनके चरणों में भक्तिपूर्वक मस्तक झुकाकर, प्रार्थना करने लगा – 'हे भगवन्! आप मुझे कोई व्रत दें, जिससे मेरा जीवन सफल हो जाए।' इतना कहकर वह विनयपूर्वक मुनिराज के समीप बैठ गया।

मुनिराज ने उसकी तरफ देखा और विचार किया कि इस

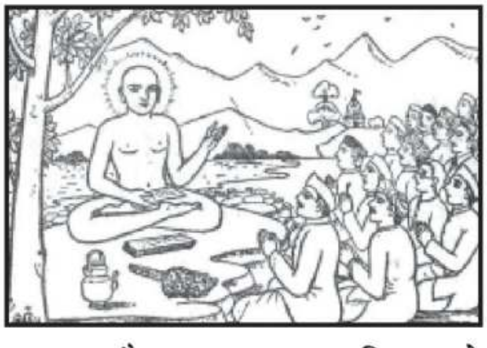

महाहिंसक के परिणाम आज अचानक कोमल कैसे हो गये ? सत्य है कि भविष्य में जो कुछ इष्ट–अनिष्ट होना होता है, उस अनुसार ही जीवों का मन भी क्रमशः पवित्र–अपवित्र बनता है। तत्पश्चात् अवधिज्ञान से आगामी घटनाक्रम को जानते हुए मुनिराज को उस पर अत्यन्त करुणा उत्पन्न हुई। उन्हें ज्ञात हुआ कि अब इस मछुआरे की जीवनलीला थोड़े ही समय में समाप्त होनेवाली है; अतः उन्होंने दया–द्रवित होकर करुणा से कहा –

'हे भव्य! मैं तुझे एक उपदेश देता हूँ, उसका पालन तू जीवन भर करना। वह यह कि तेरी जाल में पहली बार जो जीव आये, उसे छोड़ देना और वह पहली बार छोड़ा हुआ जीव जितनी बार तेरे जाल में आवे, उसे छोड़ देना। बस, इसी एक नियम से तू पाप से दूर रहेगा।'

मछुआरे ने मुनिराज के मोक्षदायक शब्दों को सुनकर अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक यह व्रत स्वीकार कर लिया। अहा! जो गुरु–आज्ञा को समझकर पालन करते हैं तथा विश्वास रखते हैं, वे अवश्य पृथ्वी पर सब प्रकार के सुख को पाकर अन्त में मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।

व्रत धारण करके मृगसेन, नदी के किनारे आया और नदी में अपनी जाल डाली। भाग्यवश उस समय एक बड़ी मछली जाल में फँस गयी। उसने जाल में से निकालकर अपने गुरु की

आज्ञानुसार उस मछली के कान में कपड़े की ध्वजा बाँधकर वापस नदी में छोड़ दिया। उसने दुबारा अपनी जाल फेंकी तब भी वही बड़ी मछली उसकी जाल में आयी। इस प्रकार पाँच बार वह मछली आई और उसने उसे छोड़ दिया। इस प्रकार उसने मन में दु:खी न होकर, दृढ़तापूर्वक अपने व्रत का पालन किया।

इधर सन्ध्याकाल का समय हो गया था। पक्षीगण भी अपने–अपने घोंसलों में शरण लेने जा रहे थे। निरुपाय होकर मृगसेन भी अपने घर की ओर चल दिया। रास्ते भर वह गुरु प्रदत्त मन्त्र का स्मरण करता रहा। उसकी पत्नी उसे खाली हाथ आया देखकर अत्यन्त दु:खी हुई। उसने क्रोधित होकर दरवाजा बन्द कर लिया और अन्दर चली गयी। सत्य है कि पति का प्रेम होने पर भी नीच स्त्रियों का व्यवहार ऐसा ही होता है।

अपनी स्त्री का ऐसा दुर्व्यवहार देखकर मृगसेन कर्तव्यविमूढ़ होकर घर के बाहर एक पुरानी लकड़ी पर पञ्च नमस्कार मन्त्र का स्मरण करके सो गया। आयु पूर्ण हो जाने से रात्रि में सर्प के डसने के कारण उसकी मृत्यु हो गयी।

अरे रे! सूर्यास्त के साथ–साथ उसकी पत्नी का सौभाग्यसूर्य भी अस्त हो गया। जब प्रात:काल उठकर पत्नी ने पति को देखा तो उसके दु:ख का पार नहीं रहा। वह छाती पीट–पीटकर रोने लगी। रात्रि में कालरूपी अन्धकार ने उसके पति के जीवन का अन्त कर दिया था; अत: उसने निदान किया कि दूसरे जन्म में भी यही मेरा स्वामी हो। तत्पश्चात् उसने अपने पति के साथ अग्नि में प्रवेश करके अपघात कर अपनी जीवनयात्रा समाप्त कर ली।

❖ ❖ ❖

विशाल नगरी में राजा विशम्भर राज्य करता था। उसकी पत्नी का नाम विश्वगुणा था। उसी राज्य में गुणपाल नाम का एक सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम धनश्री और पुत्री का नाम सुबन्धु था। धनश्री सुन्दर तथा गुणवती थी। पुण्योदय से मृगसेन का जीव, धनश्री के गर्भ में आया।

उसी राजा का नर्मभर्म नाम का एक मन्त्री था, उसके पुत्र का नाम नर्मधर्म था। मन्त्री ने राजा से प्रार्थना की कि हे राजन्! सेठ गुणपाल की पुत्री सुबन्धु के साथ मेरे पुत्र का विवाह करा दो।

राजा ने मन्त्री-पुत्र के लिए गुणपाल से इस सम्बन्ध के लिए आग्रह किया परन्तु गुणपाल अपनी पुत्री का विवाह नर्मधर्म के समान कुकर्मी से नहीं करना चाहता था और राजा से बचने का उपाय तो राज्य परित्याग के सिवाय अन्य कुछ था नहीं। अत: उसने अपने मित्र श्रीदत्त के पास अपनी सगर्भा पत्नी को छोड़कर पुत्री तथा थोड़े-से धन के साथ राज्य का परित्याग करके, कौशाम्बी नगरी में जाकर शरण ली।

श्रीदत्त के घर के समीप एक जैन श्रावक रहता था। एक दिन शिवगुप्त और मुनिगुप्त नामक दो मुनिराज आहार के लिए पधारे। जब आहार करके मुनिराज वापस जङ्गल में जाने लगे तो अनायास ही मुनिगुप्त की दृष्टि धनश्री पर पड़ गयी। वह उस समय शोचनीय दशा में श्रीदत्त के आँगन में खड़ी थी।

कुकवि की कविता के समान उसकी दयनीय दशा देखकर मुनिगुप्त ने शिवगुप्त मुनिराज से कहा – 'प्रभो! इसकी दुर्दशा देखकर लगता है कि निश्चित् ही इसके गर्भ से किसी अभागे का जन्म होना है।'

शिवगुप्त ने मुनिगुप्त मुनिराज से कहा – तुम्हारा यह अनुमान मिथ्या है। इसके गर्भ से तो एक प्रबल प्रतापी महात्मा, जिनधर्म के पूर्ण ज्ञाता पुत्र का जन्म होगा, जो राज सम्मान का पात्र होगा। यद्यपि उसका जन्म वैश्य कुल में होगा, तथापि उसका विवाह राजा विशम्बर की राजपुत्री के साथ होगा और राजवंश उसकी सेवा करेगा।'

मुनिराज की यह भविष्यवाणी सुनकर ईर्ष्यालु श्रीदत्त हृदय से कोसने लगा। यद्यपि वह सेठ गुणपाल का मित्र था, तथापि जाति भाईयों की महत्ता नहीं देख सका और उसने जन्मते ही बालक को मारने का निश्चय कर लिया। सत्य ही कहा है कि –

दुर्जन शत्रु अकारण मित्र बन जाते हैं। पहले तो श्रीदत्त विचारी धनश्री को अत्यन्त दु:खी करता था, परन्तु अब वह उसके साथ अत्यन्त प्रेम का व्यवहार करने लगा। प्रसवकाल का समय आने पर धनश्री ने पुत्र को जन्म दिया, परन्तु वह प्रसव की वेदना से मूर्च्छित हो गयी। पापी श्रीदत्त तो इसी अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था। उसने विचार किया कि बालक तेजस्वी है और आश्रय देनेवालों का विनाश करनेवाला है; अत: इसे मार ही देना चाहिए। उसने प्रसिद्ध कर दिया कि धनश्री के मरा हुआ पुत्र उत्पन्न हुआ है। फिर उसने बालक को एक हरिजन को देकर कहा कि इसे ले जाकर मार दे। हरिजन उसे ले गया, परन्तु बालक का तेज देखकर उसके प्रति दया आयी, इस कारण उसे सुरक्षित स्थान पर रखकर अपने घर आ गया।

❖ ❖ ❖

सेठ श्रीदत्त की एक बहन थी, उसका विवाह सेठ इन्द्रदत्त

के साथ हुआ था। उनके कोई सन्तान नहीं थी। बालक के पूर्वोपार्जित पुण्य के उदय से सेठ इन्द्रदत्त माल बेचकर उसी मार्ग से निकल रहा था, जिस मार्ग पर उक्त बालक था। रास्ते में ग्वाले के मुख से उस बालक की हालत सुनकर, जहाँ बालक था, वहाँ गया। बालक का अनुपम सौन्दर्य और तेज देखकर सेठ बहुत प्रसन्न हुआ और हर्षपूर्वक बालक को गोद लेकर घर ले आया। जैसे, आँख प्राप्त होते ही अन्धे को, खोई हुई मणि मिलने से मणिधर सर्प को सुख होता है; उसी प्रकार बालक की प्राप्ति से प्रसन्नता के उपलक्ष्य में सेठ ने उसका नाम धनकीर्ति रखा, बहुत उत्सव किया तथा याचकों को दान दिया।

अहो! पूर्वोपार्जित पुण्य के प्रभाव से प्राणियों की आपत्ति भी सम्पत्तिरूप में परिवर्तित हो जाती है।

जब इस घटनाक्रम का पता पापी श्रीदत्त को लगा तो वह अपने बहनोई के घर गया और मायाचारी से भरपूर बातें बनाकर बहिन तथा भानेज (धनकीर्ति) को अपने घर ले आया। यह अक्षरश: सत्य है कि दुष्ट लोगों के मन में कुछ रहता है और वे करते कुछ हैं। सज्जनों का मन, वचन और कर्म एक समान होता है – यही सज्जनों और दुर्जनों में अन्तर है। पापी श्रीदत्त भी इसी श्रेणी का दुष्ट था। अत: वह नि:सहाय बालक के खून का प्यासा हो गया था। इस बार भी उसने एक चाण्डाल को कुछ लोभ देकर बालक को मारने के लिए सौंप दिया परन्तु चाण्डाल को बालक की सुन्दरता पर दया आई और उसने उसे पहाड़ की गुफा में जाकर रख दिया।

सन्ध्या के समय जब ग्वाले गायों को चराकर वापस आ रहे

थे, तब थोड़ी-सी गायें उसी गुफा की ओर चली गयी। उस सयम लोगों ने देखा कि गायें बालक को घेर कर खड़ी हैं और उनके थनों में से दूध टपक रहा था। ये समाचार उन्होंने अपने मुखिया गोविन्द को दिये। उसके भी कोई सन्तान नहीं थी, अत: वह बालक को अपने घर ले आया और पुत्रवत् उसका पालन-पोषण करने लगा। वह बालक रूप में रतिपति कामदेव को भी लज्जित करता था। नीलकमल के समान उसके विकसित नेत्रों को देखकर भ्रमर भी अपनी मधुर झंकार से पराग के भ्रम में हमेशा उसके कान के पास गूँजते थे। चन्द्र के समान उसकी कीर्ति तथा सूर्य के समान उसका तेज देखकर लगता था कि मानो पृथ्वी भी एक दूसरे स्वर्ग के समान है। इस प्रकार जैसे-जैसे वह बालक दूज के चन्द्रमा के समान वृद्धिगत होता गया, वैसे-वैसे समस्त कलाएँ, उसके पास आती जा रही थी।

एक दिन पापी श्रीदत्त, गोविन्द के यहाँ घी लेने के लिए आया। धनकीर्ति पर नजर पड़ते ही वह उसे पहिचान गया और थोड़ी-सी जो शङ्का थी, वह लोगों से पूछकर दूर हो गयी। वह दुष्ट उसे मारने का षड़यन्त्र करने लगा। उसने गोविन्द से कहा – 'भाई! मुझे एक अत्यन्त आवश्यक कार्य है, यदि आज्ञा दो तो मैं तुम्हारे पुत्र के हाथ मेरे घर एक पत्र भेज दूँ।' गोविन्द ने सहजभाव से आज्ञा दे दी। सत्य है कि सरल चित्त लोगों को दुष्ट लोगों की दुष्टता का पता शीघ्र नहीं पड़ता।

पापी श्रीदत्त ने पत्र में लिखा 'पुत्र महाबल! यह पत्रवाहक भविष्य में अपने कुल को भस्मीभूत करनेवाला है। यह मलय अग्नि के समान भयङ्कर है, जो सामर्थ्यवान होते ही अपना सर्व

नाश करेगा; अतः तू गुप्त रीति से तलवार या मूसल से इसका काम तमाम कर देना। यह कार्य अत्यन्त सावधानी से करना, जिससे किसी को पता नहीं चले।'

कुमार धनकीर्ति ने पत्र को लेकर अपने गले में पहिने हुए हार के साथ बाँध लिया और निर्भय होकर वहाँ से चल निकला। चलते-चलते थक जाने से मार्ग में एक वृक्ष के नीचे सो गया। उसी समय एक अनंगसेना नामक वेश्या वहाँ फूल तोड़ने आई। उसने कुमार के गले में एक पत्र देखा। उसकी इच्छा हुई कि इस पत्र में क्या लिखा है, जरा पढ़ूँ तो सही! पत्र पढ़ते ही वह चकित रह गयी। उसने कुमार की सुन्दरता और पत्र प्रेषक की निष्ठुरता पर बहुत देर तक विचार किया।

अन्त में उसने उन लिखे हुए अक्षरों को अत्यन्त सावधानीपूर्वक मिटाकर उनके स्थान पर अपनी आँख में आँजे हुए काजल को सली से निकालकर ऐसा लिखा – हे प्रिय! अगर तू सच में ही मुझे अपना स्वामी मानती है और पुत्र महाबल! तू मुझे अपना पिता मानता है तो इस पत्रवाहक के साथ शीघ्र ही अपनी बहिन श्रीमती का विवाह करा देना। ऐसे सुयोग्य वर की प्राप्ति महाभाग्य से हुई है। इस कार्य में मेरी जरा भी अपेक्षा नहीं रखना क्योंकि सम्भव है कि मुझे वहाँ आने में विलम्ब हो जाए। ध्यान रहे, वर के मान –सम्मान में किसी प्रकार की कमी नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार पत्र लिखकर अनंगसेना ने उसे यथास्थान बाँध दिया और वापस अपने घर चली आई। उसके जाने के बाद कुमार की आँख खुली। वह शीघ्रता से श्रीदत्त के घर की ओर

चलने लगा। वहाँ पहुँचकर उसने श्रीदत्त की पत्नी के हाथ में वह पत्र दिया, उस पत्र को श्रीदत्त के पुत्र महाबल ने भी पढ़ा। पढ़कर उन दोनों के आनन्द की सीमा नहीं रही और उन्होंने शुभ मुहुर्त में श्रीमती के साथ कुमार धनकीर्ति का विवाह कर दिया।

देखो, वस्तुस्वभाव के परिणाम की स्वतन्त्रता! जो होना है, वह होकर रहता है; उसमें कोई फेरफार नहीं कर सकता।

जब श्रीदत्त को इस घटना का परिज्ञान हुआ तो वह घबराकर शीघ्र दौड़ा चला आया। उसने रास्ते में ही धनकीर्ति को मारने की युक्ति विचार ली। गाँव के बाहर पार्वती का एक मन्दिर था, वहाँ उसने एक मनुष्य के साथ धनकीर्ति को मारने का निश्चय किया। घर आकर उसने पार्वती की पूजा के लिए सामग्री देकर कुमार को भेजा परन्तु जिसकी आयु शेष हो, उसे कोई मार नहीं सकता और जिसका मरण काल आ जाता है, उसे कोई बचा नहीं सकता है – यह शाश्वत् सत्य सिद्धान्त है।

धनकीर्ति तुरन्त आज्ञा शिरोधार्य करके नगर के बाहर गया, परन्तु रास्ते में उसका साला महाबल आ रहा था। उसने कुमार को पूजा की सामग्री के साथ वापस घर भेज दिया। एक कहावत है कि पिता के पुण्य से सन्तान की वृद्धि होती है और पिता के अधर्म से सन्तान का अध:पतन होता है। श्रीदत्त के पाप ने पुत्र पर हाथ साफ कर दिया। पिता के पापाचरण से निरपराध महाबल मन्दिर में जाते ही मारा गया।

पुत्र की मृत्यु से श्रीदत्त अत्यन्त दु:खी हुआ। उसने अपनी पत्नी से धनकीर्ति को मारने की युक्ति पूछी। पत्नी ने कहा कि तुम निश्चिन्त रहो, अब तुम सठिया गये हो, तुम्हारी बुद्धि शिथिल

हो गयी है, मैं उसका काम तमाम कर दूँगी – ऐसा कहकर उसने दो प्रकार के लड्डू बनाये। एक तो उज्ज्वल और एक कुछ मटमैले। उज्ज्वल लड्डू दिखने में तो सुन्दर थे, परन्तु उनमें विष मिला हुआ था। भोजन के समय उसने अपनी पुत्री श्रीमती से कहा –'बेटी! मैं स्नान करने जा रही हूँ, अत: तू अपने पिता और पति को भोजन कराना, इनमें से उज्ज्वल लड्डू तेरे पति को देना और मटमेले पिता को' – ऐसा कहकर वह चली गयी।

भोलीभाली श्रीमती, पिता और पति को भोजन कराने बैठी। उसको पिता के सामने पति को उज्ज्वल लड्डू और पिता को मटमैले लड्डू परोसते हुए शर्म महसूस हुई, अत: उसने ठीक इसका उल्टा कर दिया। भाग्य की गति विचित्र है। किसी को पता नहीं कि कब, किसका क्या होगा? लड्डू खाते ही श्रीदत्त मरण की शरण हो गया, उसकी दुष्टता का अन्त आ गया।

जब श्रीमती की माता स्नान करके वापस आई तो उसके दु:ख का पार नहीं रहा, उसने बहुत विलाप किया और स्वयं ने भी एक जहरीला लड्डू खाकर अपना अन्त कर लिया। सत्य ही है कि जो दुसरों का बुरा चाहता है, उसका बुरा होता ही है – यह अटल और अविचल नियम है। यदि कोई तुम्हारी बुराई करता है, उसकी भी तुम भलाई करो। तुम्हें अच्छी भलाई का प्रतिफल अवश्य प्राप्त होगा और उसको उसकी बुराई का।

❖ ❖ ❖

धनकीर्ति की प्रतिष्ठा और सरलता का परिचय महाराज विशम्बर के कानों तक पहुँच गया। उन्होंने अत्यन्त प्रसन्न होकर अपनी पुत्री का विवाह धनकीर्ति के साथ कर दिया। राजा ने उसे

दहेज में बहुत धन–सम्पत्ति तो दी ही, राजसेठ पद पर भी उसको नियुक्त कर दिया। सत्य ही है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु साध्य नहीं है, जो जिनधर्म के प्रभाव से प्राप्त न हो।

जब धनकीर्ति के वास्तविक पिता सेठ गुणपाल को अपने भाग्योदय के समाचार ज्ञात हुए तो वह शीघ्र कौशाम्बी से उज्जैन के लिए रवाना हो गया। काफी लम्बे समय के बाद पिता–पुत्र का मिलन हुआ। अब धनकीर्ति अनेक भोगों का भोग करता हुआ, सुख–चैन से अपना जीवन व्यतीत करने लगा। साथ ही साथ अपने कर्तव्य से भी विचलित नहीं हुआ। दीन–दुखियों की सहायता, देवराधन, स्वाध्याय, अध्ययन आदि उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन गया था।

एक दिन धनकीर्ति के पिता सेठ गुणपाल अपनी पत्नी, पुत्र, बन्धु, बान्धवों आदि को साथ लेकर यशोध्वज मुनिराज की वन्दना के लिए गये। भाग्य से वेश्या अनंगसेना भी वहाँ आयी। मुनिराज की वन्दना करने के बाद गुणपाल सेठ ने उनसे पूछा – 'प्रभो! आपको त्रिकाल का ज्ञान है; अतः कृपा करके हमें यह बतलाने का अनुग्रह करें कि मेरे पुत्र धनकीर्ति ने पूर्व भव में ऐसा क्या पुण्य किया था, जिसके फलस्वरूप इसे बालपन में ही भयङ्कर कष्टों पर विजय प्राप्त करके यह अचल कीर्तिवान, प्रचूर धनी, सुकर्मी, दानी तथा दयालु हुआ?

सेठ के प्रश्न के उत्तरस्वरूप परम करुणाशील, चार ज्ञान के धारी यशोध्वज मुनिराज ने मृगसेन धीवर की कथा सुनाते हुए कहा – 'धनकीर्ति पूर्व भव में धीवर था, उसकी स्त्री का नाम घटा था, जो इस जन्म में श्रीमती नाम की सुलक्षणा गुणवती स्त्री

है। वह मछली, जिसे पाँच बार पकड़कर इसने छोड़ दिया था, वह इस जन्म में अनंगसेना बनी है। गुणपाल! यह सब अहिंसाव्रत धारण करने का फल है। यह अहिंसाव्रत का प्रर्वतक जिनधर्म ऐसा धर्म है, जिससे सज्जनों को क्या नहीं मिलता?'

मुनिराज के श्रीमुख से कुमार धनकीर्ति की यह कथा सुनकर सबको जिनधर्म पर अटल श्रद्धा हो गयी। धनकीर्ति, श्रीमती, अनंगसेना को अपने-अपने पूर्व भवों की बातें स्मरण हो आई। उसे उस समय मुनिराज द्वारा दिये गये उपदेश वाक्यों का पूर्णत: स्मरण हो गया, जिससे उसका चित्त वैराग्य से ओत-प्रोत हो गया। तत्त्वज्ञानी वैरागी कुमार ने पुण्योदय से प्राप्त संयोगों का उपभोग करते हुए भी तत्त्वाभ्यास में अपना जीवन समर्पित कर दिया। धनकीर्ति ने अपने हाथों से केशलोंच करके जिनदीक्षा धारण कर ली। धनकीर्ति की यह दशा देखकर श्रीमती और अनंगसेना ने भी अपने हृदय में से विषयवासना का भाव छोड़कर आर्यिका दीक्षा अङ्गीकार कर ली। जिनधर्म के प्रभाव से धनकीर्ति ने समाधिपूर्वक प्राण त्याग कर सर्वार्थसिद्धि का श्रेष्ठ सुख प्राप्त किया और आगामी भव में मनुष्य होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। इसी प्रकार श्रीमती और अनंगसेना ने भी स्वर्ग प्राप्त किया। सत्य है कि जिनधर्म की आराधना से किसको सुख नहीं मिला? वस्तुत: जिनधर्म कल्पतरु के समान मनवांछित फल देनेवाला है। ●

2

सङ्गति कीजे साधु की....

पाटलिपुत्र (पटना) के राजा नन्द के दो मन्त्री थे। एक शकटाल और दूसरा वररुचि। शकटाल जैन था, उसे जैनधर्म के प्रति अचल श्रद्धा और प्रीति थी। दूसरा वररुचि जैन नहीं था, इसलिए उसे जैनधर्म से, जैनधर्म के माननेवालों से द्वेष था, ईर्ष्या थी। इस कारण शकटाल और वररुचि की कभी नहीं बनती थी; दोनों एक-दूसरे से अत्यन्त विरुद्ध थे।

एक दिन जैनधर्म के परम विद्वान महापद्म मुनिराज अपने संघसहित पटना नगर में पधारे। शकटाल, मुनिभक्ति से प्रेरित होकर एवं धर्मश्रवण की आकाँक्षा से मुनिराज के दर्शन करने के लिए वन में गया। उसने बड़ी भक्ति के साथ मुनिराज की पूजा-वन्दना की और मुनिश्री के समीप बैठकर धर्म का पवित्र उपदेश सुना।

अपने पवित्र उपदेश में मुनिराज ने कहा – 'हे भव्य जीवों! यदि तुम संसार के दु:खों से भयभीत हो तो आज ही श्रामण्य अङ्गीकार करो! अहो! जिस दशा में क्षण-क्षण में अन्तर्मुख होकर आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्दरूप अमृत पिया जाता है,

उस दशा को अङ्गीकार किये बिना कभी भी संसार-परिभ्रमण का अन्त नहीं है।

अहा! आत्मा सम्पूर्ण निवृत्तस्वरूप तत्त्व है, उसे पर्याय में अनुभव करने के लिए अन्तरोन्मुखी प्रयत्न करो। अपने को जानो, पहिचानो, अपने में ही जम जाओ, रम जाओ – यही सुखी होने का एकमात्र उपाय है।

मुनिराज के उपदेश का शकटाल के धार्मिक एवं कोमल हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा। वह उसी समय संसार का सब मायाजाल तोड़कर दीक्षा ग्रहण करके मुनि हो गया। इसके बाद उसने अपने गुरु द्वारा सिद्धान्तशास्त्र का अच्छा अभ्यास किया। थोड़े ही दिनों में शकटाल मुनि ने कई विषयों में बहुत ही अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। गुरु भी इनकी बुद्धि, विद्वता, तर्कशक्ति और स्वाभाविक प्रतिभा देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपना आचार्यपद अब इन्हें दे दिया। आत्मसाधना में संलग्न शकटाल मुनि ने धर्मोपदेश और तत्त्वप्रचार के लिए अनेक देशों, शहरों और गाँवों में भ्रमण किया। मुनिराज का आत्महितकारी उपदेशश्रवण करके अनेक जीव आत्महित साधक पवित्र मार्ग में लगे। मुनिराज के सातिशय प्रभावना योग से दुर्गति के दु:खों का नाश करनेवाले पवित्र जैनधर्म का प्रकाश सर्वत्र व्याप्त हो गया। इस प्रकार धर्म प्रभावना करते हुए वे मुनिराज एक बार फिर पटना पधारे।

❖ ❖ ❖

एक दिन शकटाल मुनि, राजा के अन्त:पुर में आहार करके तपोवन की ओर जा रहे थे। मन्त्री वररुचि ने इन्हें देख लिया।

इस पापी ने पुराने बैर का बदला लेने का यह अच्छा अवसर देखकर राजा नन्द से कहा – 'महाराज! आपको कुछ पता है कि इस समय अपना पुराना मन्त्री पापी शकटाल भीख के बहाने आपके अन्त:पुर में, रनवास में घुसकर न जाने क्या अनर्थ कर गया है! मुझे तो उसके चले जाने के बाद ये समाचार मिले, नहीं तो मैंने उसे कभी का पकड़वा कर पाप की सजा दिलवा दी होती। आपको ऐसे धूर्तों के लिए चुप बैठना उचित नहीं है।'

सच है, दुर्गति में जानेवाले पापी लोग बुरे से बुरा कोई काम करते नहीं चूकते।

राजा नन्द ने अपने मन्त्री के बहकावे में आकर क्रोधपूर्वक उसी समय एक नौकर को आज्ञा की कि वह जाकर शकटाल को जान से मार दे।

अरे...रे! मूर्ख पुरुष, दुर्जनों द्वारा उकसाये जाने पर कृत्य–अकृत्य और भले–बुरे का कुछ भी विचार न करके, अन्याय कर ही डालते हैं।

शकटाल मुनि ने जब उस घातक मनुष्य को अपनी ओर आते देखा, तब उन्हें विश्वास हो गया कि यह मुझे मारने को आ रहा है और यह सब कृत्य मन्त्री वररुचि का है।

जब तक वह घातक, शकटाल मुनि के निकट पहुँचा, उसके पहले ही उन्होंने सावधान होकर संन्यास ले लिया। घातक अपना काम पूरा कर वापस लौट गया। इधर शकटाल मुनि ने समाधि से शरीर त्याग कर स्वर्ग–लाभ प्राप्त किया।

अहो! दुष्ट पुरुष अपनी ओर से कितनी ही दुष्टता क्यों

न करें, परन्तु उससे सत्पुरुषों को कुछ हानि न पहुँचकर लाभ ही होता है।

जब राजा नन्द को सम्पूर्ण सत्य वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ और उसने सब बातों की गहरी छान-बीन की, तब उसे पता चल गया कि शकटाल मुनि का कोई दोष नहीं था, वे सर्वथा निरपराध थे। इसके पूर्व जैन मुनियों के सम्बन्ध में जो उसकी मिथ्या धारणा हो गयी थी, इस कारण उसे मुनियों पर बेहद क्रोध हो रहा था, उस सब को हृदय से दूर कर, वह अब बहुत पश्चाताप करने लगा। उसने अपने पापकर्मों की बहुत निन्दा की। इसके बाद वह श्रीमहापद्म मुनि के समीप गया। अत्यन्त भक्ति से उसने उनकी पूजा -वन्दना की और सुख के कारणभूत पवित्र जैनधर्म का उपदेश सुना। धर्मोपदेश का उसके चित्त पर बहुत प्रभाव पड़ा। उसने श्रावकों के व्रत धारण किये। अब जैनधर्म पर इसकी अचल श्रद्धा हो गयी थी। वह भी मुक्तिपथ का अनुगामी बन गया था।

देखो, कुसङ्ग का प्रभाव! यह जीव कुसङ्ग में पड़कर, अपने हिताहित का विचार किये बिना ही अनेक कुत्सित पाप कर्मों में लिप्त हो जाता है। यदि स्वयं की सत्पात्रता हो तो अच्छी सङ्गति ग्रहण करके सत्कर्मों में संलग्न हो जाता है। इसीलिए ज्ञानीजनों ने अपने से गुणाधिक की सङ्गति का पावन उपदेश दिया है। गुणहीन की सङ्गति हमें भी निम्न स्तर पर खड़ा करने का साधन है। इसीलिए कहा है कि सङ्गति कीजे साधु की... !●

3

यशोधर और चन्द्रमति की कथा

मत करो पाप का अनुमोदन

एक दिन की बात है कि यशोमति अपने अन्त:पुर के साथ उद्यान में क्रीड़ा करने के लिए आया। उसी समय चन्द्रकर्मा भी मुर्गा युगल को लोहखण्ड के पिंजरे में बन्द करके उद्यान में आया। यहाँ आकर चन्द्रकर्मा ने रेशमी वस्त्र के समान अनेक रङ्गों से उज्ज्वल एक मनोहर भवन देखा। चन्द्रकर्मा ने इस प्रसाद के पूर्व द्वार में स्थित मणियों से उज्ज्वल, आकाश के समान स्वच्छ और विचित्र पट मण्डप में परस्पर प्रेमासक्त इस मुर्गा युगल को छोड़ दिया तथा वह मुर्गा युगल की मन्द–मन्द बाँग पुकारने लगा।

इतने में ही चन्द्रकर्मा ने अशोकवृक्ष के नीचे खड़गासन में स्थित एक मुनिराज को देखा। मुनिराज के दोनों हाथ नीचे की ओर लटक रहे थे और दृष्टि नासाग्र थी। वे दयालु थे, उन्होंने समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली थी।

चन्द्रकर्मा ने मुनिराज को देखा और मन बिना उनकी वन्दना की तथा निष्ठुर हृदय से उनके सम्बन्ध में विचारने लगा कि मनुष्य के मन में डर उत्पन्न करनेवाले प्रचण्ड सर्प के समान इस मुनि ने राजा के निवास स्थान को अपवित्र किया है। वह इस प्रकार विचार कर ही रहा था, इतने में मुनिराज को योग पूर्ण हो गया।

चन्द्रकर्मा ने मुनिराज को ध्यान में से बाहर आते देखा और अत्यन्त निष्ठुर मन से उन कामदेव विजेता मुनिराज से कहा कि – 'हे मुनिराज! आप लोक प्रसिद्ध हो और जनता आपको मानती है–पूजती है, फिर भी आप क्या ध्यान करते हो?'

मुनिराज, चन्द्रकर्मा का यह प्रश्न सुनकर विशुद्ध हृदय से उसे कहने लगे – 'हे भद्र! तूने जो बात पूछी है, वह तुझे बताता हूँ, तू सावधान होकर एक चित्त से सुन। भद्र! मैंने अपने ध्यान में यह विचार किया कि इस असार संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त शरीर धारण किये और छोड़े तथा अनेक योनियों में जो दु:ख सहन किये उन दु:खों से मुक्ति कैसे पायी जा सकती है?'

मुनिराज की बात सुनकर चन्द्रकर्मा पूछने लगा – 'हे साधु! क्या शरीर से अन्य भी कोई जीव वस्तु है? शरीर उससे भिन्न है?'

मुनिराज अवधिज्ञानी तथा ग्यारह अङ्ग के धारक थे और समस्त प्रकार के सन्देह को दूर करनेवाले थे। जब उन्होंने चन्द्रकर्मा का प्रश्न सुना तो स्पष्ट शब्दों में कहने लगे – 'हे भोले मानव! तुझे इस सम्बन्ध में जरा भी सन्देह नहीं करना चाहिए। तू विश्वास रख कि शरीर एक अलग वस्तु है और जीव एक अलग वस्तु है।'

परन्तु चन्द्रकर्मा नहीं माना वह मुनिराज से कहने लगा – 'योगिराज! न तो जीव अलग है और न शरीर अलग है, परन्तु

अनेक योनिरूप वृक्षों से मण्डित संसाररूपी वन में घूमनेवाले प्राणियों की जो सजीव वस्तु है, वह शरीर ही है। वह एक उदाहरण देकर अपनी बात कहने लगा – 'मुनिराज! मैंने एक चोर को एक कोठी में बन्द कर दिया और उस कोठी के चारों ओर लाख जड़ दी, फिर उसमें एक छेद किया, अब उस कोठी में पड़ा हुआ चोर मर गया, परन्तु मुनिराज! मैंने कहीं भी उस छेद में से उसके जीव को निकलते नहीं देखा। अत: योगीराज! मैं तो इस घटना से यह सत्य समझता हूँ कि वही जीव है और वही शरीर है, दोनों भिन्न–भिन्न नहीं हैं।'

योगीराज ने जब चन्द्रकर्मा की बात सुनी तो वे कहने लगे कि 'हे भद्र! तू उसी कोठी में एक मनुष्य को शंख देकर बैठा दे और उससे कह कि तू बहुत प्रसन्नता से उस शंख को फूँक। जब वह शंख बजाने लगे, तब उसकी आवाज को तू अवश्य सुनेगा, परन्तु उस आवाज को तू उस छिद्र में से निकलते हुए नहीं देख सकेगा, अन्य कोई भी नहीं देख सकेगा। भद्र! जिस प्रकार आवाज बाहर निकलने पर भी देखी नहीं जा सकती; उसी प्रकार शरीर में से बाहर निकलते हुए जीव को भी कोई नहीं देख सकता।'

चन्द्रकर्मा, मुनिराज का यह दृष्टान्त सुनकर कहने लगा – 'योगीराज! अब मैं जो दृष्टान्त आपसे कहनेवाला हूँ, उससे मेरी बात की सत्यता का स्पष्टीकरण होता है। मुनिराज! मैंने एक सजीव चोर को तराजू में तोला, फिर उसको जीव रहित कर दिया परन्तु दोनों स्थितियों में वजन एक समान ही रहा। हे मुनिराज! मेरे इस कथन से आप विश्वास करें कि जीव है, वही शरीर है, अर्थात् दोनों एक हैं।'

मुनिराज ने चन्द्रकर्मा का दृष्टान्त बहुत ही ध्यान से सुना, फिर उससे कहने लगे कि – 'भद्र! अब तू मेरा मनोहारी उदाहरण सुन! एक गोपाल ने चमड़े की थैली हवा से भरी और उसे तराजू में तोला, फिर उसमें से हवा निकालकर तराजू में तोला – दोनों अवस्थाओं में वजन एक समान ही रहा। इसलिए हे भद्र! जिस प्रकार चमड़े की थैली हवा से भरने पर भी उतनी ही रहती है, उसी प्रकार अजीव और सजीव मनुष्य भी उतना ही रहता है। जीव, शरीर में रहे अथवा न रहे; वजन में कोई अन्तर नहीं पड़ता।'

मुनिराज कहने लगे – 'हे भद्र! मेरी बात पर विश्वास कर कि जीव अलग वस्तु है और शरीर अलग वस्तु है – दोनों एक नहीं हैं।'

योगीराज की यह बात सुनकर चन्द्रकर्मा कहने लगा कि – 'हे महाराज! मेरी बात सुन लो, मैंने एक चोर के शरीर को काट दिया तथा उसके बहुत छोटे–छोटे टुकड़े किये तो शरीर के बाहर या अन्दर कहीं जीव नाम की वस्तु नहीं दिखी। मुनिराज! जिस प्रकार एक शरीर के छोटे–छोटे टुकड़े करने पर भी जीव नहीं दिखता है, अतः इससे ही सिद्ध होता है कि शरीर और जीव एक है।'

योगीराज ने चन्द्रकर्मा का यह उदाहरण सुना और फिर वे कहने लगे कि – 'भद्र! अब मेरा भी एक अत्यन्त स्पष्ट उदाहरण सुन! एक मनुष्य एक अरणी बाँस को काटता है, परन्तु उसके

भीतर रहनेवाली अग्नि उसे नहीं दिखती। तत्पश्चात् वह अरणी बाँस के छोटे–छोटे टुकड़े भी कर देता है, तथापि उसके भीतर की अग्नि उसे नहीं दिखती। मुनिराज कहने लगे कि हे भद्र! जिस प्रकार अरणी बांस में अग्नि होने पर भी उसको अग्नि नहीं दिखती, उसी प्रकार खण्ड–खण्ड शरीर में जीव विद्यमान होने पर भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं होने से मनुष्य को नहीं दिखता है। हे आर्य! इस दृष्टान्त से तू मेरी बात को सत्य समझ कि जीव और शरीर अलग–अलग है।'

मुनिराज की यह बात सुनकर चन्द्रकर्मा कहने लगा कि – 'हे देव! मैं तो निरुत्तर हो गया। अब आप बताओ कि मैं क्या करूँ? भगवान! अब आप मुझ पर प्रसन्न होओ।'

चन्द्रकर्मा की बात सुनकर मुनिराज उसके प्रति दयार्द्र हो गये और कहने लगे – 'महाभाग! अब तुम धर्म करो, क्योंकि धर्म ही समस्त प्राणियों का बन्धु है।'

तब चन्द्रकर्मा ने मुनिराज की सेवा में निवेदन किया कि – 'भगवान! आप मुझे स्पष्टरूप से धर्म और अधर्म का फल समझाओ।'

मुनिराज कहने लगे कि – 'सौभाग्य, सम्पत्ति, दीर्घायु, निर्मलयश, वशीकरण, आरोग्य – यह सब मनुष्य को धर्म से प्राप्त होते हैं और दरिद्रता, कुरूपता, दुर्भाग्य, बन्धुहीनता आदि सब मनुष्य को अधर्म से प्राप्त होता है।'

चन्द्रकर्मा ने जब मुनिराज से धर्म–अधर्म का फल सुना तो मुनिभक्ति के कारण उसका शरीर रोमाञ्चित हो गया और वह फिर कहने लगा – भगवान! आप तो संसार समुद्र पार करानेवाले

हो, अत: मेरे गृहस्थ जीवन में मुझसे जो धर्म हो सके, उस विषय में कुछ उपदेश दो।

चन्द्रकर्मा की विनती सुनकर ज्ञानी योगीराज के मन में करुणा उत्पन्न हुई। वह कहने लगे – 'वत्स! अगर तेरी धर्म पालन की इच्छा है तो सम्यक्त्वपूर्वक पाँच अणुव्रतों का पालन कर।'

मुनिराज की बात सुनकर चन्द्रकर्मा निवेदन करने लगा कि – 'महाराज! आप मुझे स्वर्ग और मोक्ष के हेतुभूत तथा सुख-सम्पत्ति प्रदाता पाँच अणुव्रतों का स्वरूप संक्षेप में समझाओ।'

मुनिराज ने पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, मधुत्याग, पाँच उदम्बर त्याग, रात्रि भोजन त्याग, पञ्च नमस्कार मन्त्र, सम्यक्त्व और गुरु पूजा इत्यादि समस्त गृहस्थधर्म का उपदेश संक्षेप में दिया।

मुनिराज का उपदेश सुनकर चन्द्रकर्मा कहने लगा – 'स्वामिन! मैंने सम्यक्त्वपूर्वक अन्य सब व्रत तो ले लिये, परन्तु मैं अहिंसाव्रत नहीं ले सकता, क्योंकि जीवघात करना हमारा कुलधर्म है।' यह सुनकर मुनिराज कहने लगे – 'चन्द्रकर्मा! तू सत्य कहता है; जीवघात करना तुम्हारा कुलधर्म है परन्तु तुझे पता नहीं है कि अनन्त पापार्जन का कारण यह तेरा जीवघात जन्य कुलधर्म ही है। जब तक तू अपने कुलधर्म को नहीं छोड़ेगा, तब तक तू भी अनन्त दु:ख देनेवाली मृत्यु परम्परा को उसी प्रकार प्राप्त करेगा जिस प्रकार इन मुर्गे–मुर्गी के युगल ने जीवघात जन्य अपना कुलधर्म नहीं छोड़ा और अनन्त दु:ख देनेवाली मृत्यु परम्परा को प्राप्त किया।'

मुनिराज की यह बात सुनकर चन्द्रकर्मा का मन आश्चर्य से

भर गया तथा वह कौतूहल के साथ पूछने लगा कि – 'योगीराज! इन मुर्गे–मुर्गी के युगल ने पूर्व भव में कुलधर्म नहीं छोड़ने के कारण किस प्रकार की मृत्यु परम्परा प्राप्त की।'

चन्द्रकर्मा का यह प्रश्न सुनकर मुनिराज कहने लगे कि – 'चन्द्रकर्मा! तुम एकाग्रचित्त से सुनो, मैं इनके भवान्तर बताता हूँ। भद्र! यह मुर्गा यशोमतिकुमार राजा का पूर्व जन्म का पिता यशोधर नरेश है और यह मुर्गी यशोधर राजा की पूर्व जन्म की दादी चन्द्रमति है। इन्होंने अपना कुलधर्म नहीं छोड़ा और बहुत भक्ति के साथ चन्द्रिकादेवी की पूजा के लिए आटे का मुर्गा बनाकर उसका वध किया। उस पाप का यह परिणाम है। वे मुर्गा–मुर्गी के युगलरूप में उत्पन्न हुए तथा इसी कारण शान्तचित्त से इस समय धर्म श्रवण कर रहे हैं। वे दोनों पूर्व के यशोधर और चन्द्रमति एक भव में मोर और कुत्ता हुए, दूसरे भव में सर्प और नेवला हुए, तीसरे भव में मत्स्य और मगर हुए, चौथे भव में बकरी और बकरा हुए, पाँचवें भव में भँवरा और भँवरी हुए और छठवें भव में यह मुर्गा और मुर्गी हुए हैं।'

योगीराज की यह बात सुनकर चन्द्रकर्मा के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसका सम्पूर्ण शरीर भय से काँपने लगा। वह मुनिराज से कहने लगा – 'भगवान! मैं इसी समय मन, वचन और काया से अपना जीवघातरूप कुलधर्म त्यागता हूँ और सर्वोत्तम अहिंसक जैनधर्म स्वीकार करता हूँ; इसके सिवाय मैंने सम्यक्त्व और अणुव्रतादि व्रत भी स्वीकार कर लिये हैं। अब मैं सच्चा श्रावक हूँ और मेरे देव एकमात्र जिनेन्द्र भगवान ही हैं।'

मुर्गे–मुर्गी युगल ने भी मुनिराज के श्रीमुख से सर्वोत्तम धर्म

सुनकर और अनेक दु:खों से परिपूर्ण अपने भवान्तर सुनकर भक्तिपूर्वक जैनधर्म स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् उनको इतना सन्तोष हुआ कि उसे व्यक्त करने के लिए अत्यन्त मधुर बाँग पुकारी।

ठीक उसी समय यशोमतिकुमार राजा अपनी प्रियतमा कुसुमावली के साथ पटमण्डप में बैठा था। मुर्गे–मुर्गी की बाँग सुनकर वह अपनी पत्नी से कहने लगा कि – 'हे प्रिया! तू मेरी धनुर्विद्या की कौशल्यता देख। मैं एक ही बाण की चोट से इस मुर्गे युगल को मार दूँगा।' ऐसा कहकर उसने एक बाण निकालकर धनुष की डोरी पर चढ़ाया, बाण को कान तक खींचकर मुर्गे युगल पर चला दिया और उनकी जीवन लीला समाप्त कर दी।

जिनधर्म परायण इस युगल ने समता के साथ प्राणों का त्याग किया; अत: यशोमतिकुमार राजा की रानी कुसुमावली के गर्भ में आये और उसके गर्भ से कुमार व कुमारी के रूप में जन्म धारण किया। दोनों कला, गुण और सौन्दर्य में बहुत वृद्धिगत हुए।

❖ ❖ ❖

एक दिन सुदत्त मुनिराज अपने विशाल संघसहित उज्जैनी नगरी में पधारे। उसी समय राजा यशोमति भी शिकार खेलने की इच्छा से अपने परिवार के साथ उज्जैनपुरी से निकला। जैसे ही यशोमति ने सुदत्त नामक आचार्य को एक वृक्ष के नीचे विराजमान देखा, उसने अपने पाँच सौ कुत्ते उन पर छोड़ दिये।

वे कुत्ते ज्यों ही दौड़ते हुए मुनिराज के समीप आये तो मुनिराज की शान्त मुद्रा को देखकर वे कुत्ते भी मुनिराज की प्रदक्षिणा देकर आनन्द के साथ उनके समक्ष बैठ गये।

यशोमतिकुमार ने जब कुत्तों को शान्तभाव से बैठा देखा तो उसकी आँखें क्रोध से लाल हो गयीं और वह स्वयं तलवार निकालकर मुनिराज को मारने दौड़ा, परन्तु सम्यग्दृष्टि कल्याणमित्र नाम के साहूकार ने उसे समझाया और मुनिराज के समीप ले गया।

आचार्य महाराज को देखकर यशोमतिकुमार का मन प्रसन्न हो गया और वह विचारने लगा कि – 'मुझ पापी ने किसलिए मुनिराज को मारने का विचार किया? इस पाप का केवल एक ही प्रायश्चित्त है कि मैं अपनी आत्मविशुद्धि के लिए अपना सिर काटकर मुनिराज के चरणों में अर्पित कर दूँ।'

उस समय अपने दुष्कृत्यरूप पाप के पश्चाताप से यशोमतिकुमार का आत्मा पवित्र हो गया था। वह जैसे ही अपना सिर काटने को तैयार हुआ कि तुरन्त ही मुनिराज ने उसे रोककर कहा – 'हे राजन! तुम्हे ऐसा अशोभनीय कार्य नहीं करना चाहिए।' जब यशोमतिकुमार को पता चला कि मुनिराज उसका अभिप्राय समझ गये हैं तो वह अत्यन्त लज्जित हुआ और मुनिराज को नमस्कार करने लगा। उस समय यशोमति को अत्यन्त वैराग्य हुआ। वह मुनिराज से प्रार्थना करने लगा – 'हे भगवन! आप मुझ अभागे के दुश्चरित्र को क्षमा कर दो।'

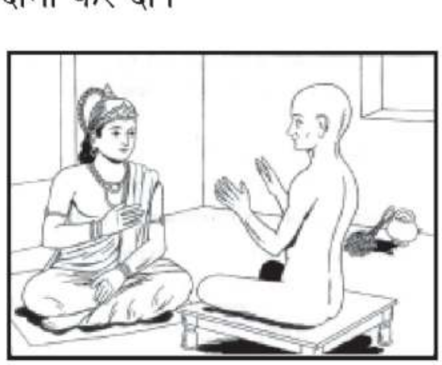

यशोमति की बात सुनकर मुनिराज कहने लगे कि – 'हे वत्स! तू बहुत भोला है। अरे! हमारे जैसे मुमुक्षुओं को तो संसार की समस्त जनता की बात सहन

करनी चाहिए, परन्तु तुम्हारे समान राजा को तो विशेष प्रकार से सहनशील होना चाहिए।'

जब राजा ने मुनिराज की बात सुनी तो वह मुनिराज से निवेदन करने लगा – 'भगवन! आप मुझे स्पष्ट कहो कि मैं अभी क्या विचार कर रहा था?'

मुनिराज अवधिज्ञानी थे। वे कहने लगे – 'राजन! एक चित्त से सुन। मैं तेरी मन चिन्तित बात कहता हूँ। तुम विचार कर रहे थे कि संसार में मुनि वध करने का एक ही प्रायश्चित्त है, और वह यह है कि अपना सिर काटकर मुनिराज के चरणों में अर्पण कर दूँ, परन्तु तुमने यह बहुत कुत्सित विचार किया है, क्योंकि विद्वानजन आत्महत्या को महान पाप मानते हैं।'

उस समय यशोमति को दुःख और सन्तोष दोनों हो रहे थे, इतने में विशुद्ध आत्मा कल्याणमित्र, यशोमति से कहने लगा कि – 'हे राजन! मुनिराज ने तुम्हारी एक चिन्ता जान ली तो तुम्हें इतना आश्चर्य हो रहा है। मित्र! ये तो महान योगी हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों काल को जानते हैं। यदि तुम्हें कोई शङ्का होवे तो इन तपस्वी महाराज से पूछ सकते हो।'

जब यशोमति ने कल्याणमित्र की बात सुनी तो उसने बारम्बार योगीराज को नमस्कार किया और उनसे पूछने लगा - भगवान! आप मुझे यह कहें कि मेरे दादा किकीर्त्योंघ, दादी चन्द्रमति और पिता यशोधर इस समय किस गति में हैं और किस प्रकार के सुख-दुःख का अनुभव कर रहे हैं। इतना कह कर राजा का मन मुनिराज का उत्तर सुनने के लिए उत्सुक हो गया।

अवधिज्ञानरूपी नेत्रधारी मुनिराज अपने दिव्यज्ञान से को

इस प्रकार कहने लगे – तेरे दादा ने सिर में एक सफेद बाल देखकर दिगम्बरी दीक्षा अङ्गीकार कर ली थी और पाँच रात तक तप करके समाधिपूर्वक देह छोड़कर अभी ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में दिव्य सुख का अनुभव कर रहे हैं तथा तेरी माता अमृतमति ने जहर देकर अपनी सास और पति (तेरी दादी और पिता) को मार दिया था। वह इस कृत्य के कारण छठवें नरक पहुँची और वहाँ के भयङ्कर तथा असहनीय वेदना का अनुभव करती, अपने पापी जीवन की निन्दा करती हुई अत्यन्त संक्लेश के साथ अपने दिन व्यतीत कर रही है। हे राजन्! तेरे पिता जो यशोधर नरेश थे तथा चन्द्रमति तेरी दादी थी। इन दोनों ने चन्द्रिका देवी / कुलदेवी को प्रसन्न करने के लिए आटे का मुर्गा बनाकर उसे मारकर देवी को अर्पण किया था। अत: हे राजन्! इस महान पापानुबन्ध के कारण वे तिर्यञ्च योनियों से परस्पर एक-दूसरे को मारा करते थे और जब वे युगल मुर्गे-मुर्गी के रूप में पैदा हुए थे तथा पञ्च नमस्कार मन्त्र का ध्यान कर रहे थे, इतने में तुमने उन्हें बाण से मार दिया। वे मर कर तुरन्त ही कुसुमावली के गर्भ से तेरे पुत्र और पुत्री के रूप में पैदा हुए हैं। पुत्र का नाम अभयरुचि है और पुत्री का नाम अभयमति है।

इन भव परम्पराओं को सुनकर यशोमति राजा बहुत विस्मित हुआ। उसके मन में तीव्र वैराग्यभाव जागृत हुआ। उसने मुनिराज द्वारा सम्पूर्ण वृतान्त सुनकर अपने अन्त:पुर परिवार के साथ निर्ग्रन्थ दीक्षा अङ्गकार कर ली। वहीं जब अभयरुचि और अभयमति ने अपने भवान्तर सुने तो उनको जातिस्मरणज्ञान हो गया तथा उनके मन में भी वैराग्यभाव जागृत हो गया। दोनों ही भाई-बहिन ने दीक्षा लेने के भाव से मुनिराज सुदत्त के समीप

जाकर अत्यन्त शान्तभाव तथा भक्ति से मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा की, नमस्कार किया और विनयपूर्वक कहने लगे – हे भगवान! हमें भी दिगम्बर दीक्षा प्रदान करो।

जब आचार्य सुदत्त ने उनकी बात सुनी तो दोनों का कुसुम-सुकुमार बाल जीवन देखकर और उनका धैर्य देखकर मुनिराज भी विस्मित हुए। मुनिराज कहने लगे – कुमारो! तुम लोगों का शरीर अभी एकदम कोमल है। तुमने अभी तक कभी विघ्न-बाधाओं का सामना नहीं किया और तुम्हारा मन भी बहुत ही कोमल है। तुम्हारे में सम्पूर्ण जैन मुनिव्रत पालन की क्षमता नहीं है। अत: अभी तुम लोगों को क्षुल्लक धर्म का पालन करना उचित है। उसके बाद तुम्हें दिगम्बरी दीक्षा दूँगा।

जब जिनभक्त परायण अभयरुचि और अभयमति ने मुनिराज की दिव्यवाणी सुनी तो अभयरुचि ने अत्यन्त भक्तिसहित मुनिराज के समीप क्षुल्लक धर्म स्वीकार किया तथा अभयमति ने ग्यारह अङ्ग की पाठिका शान्ति अर्यिका के समीप अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ क्षुल्लिका के व्रत स्वीकार किये।

❖ ❖ ❖

राजपुर नाम का एक सुन्दर नगर है। उस नगर में मारीदत्त नाम का राजा रहता था। वह देवी का परम भक्त था। उसी नगर की दक्षिण दिशा में चण्डमारी नाम की एक कुलदेवी रहती थी। मारीदत्त आदि अपने हाथों से जीवों की हत्या करके अत्यन्त भक्ति के साथ बलि से इस कुलदेवी की पूजा करते थे। वे मानते थे कि यदि इस प्रकार चण्डमारी देवी की पूजा नहीं करें तो वह सबको मार देगी।

एक दिन की बात है कि मारीदत्त राजा, प्रत्येक नगरवासी

तथा अपने अन्त:पुर को साथ लेकर देवी के मन्दिर में आया। ठीक उसी समय सुदत्त नाम के आचार्य भी अपने संघसहित विहार करते उसी राजपुर के निकटवर्ती श्मशान में पधारे।

उस समय चण्डमारी की पूजा करने के लिये, उसके चरणों में बलि चढ़ाने के लिए सब लोग मोर, मुर्गी आदि असंख्य प्राणी साथ लाये थे। इतने में राजा के मेहतरों ने कहा कि एक सम्पूर्ण प्रशस्त लक्षणों से परिपूर्ण मनुष्य युगल मँगाओ। जब राजा ने मेहतरों की बात सुनी तो उसने शीघ्र ही सेवकों को आदेश दिया कि एक सुन्दर मनुष्य युगल ले आओ। नौंकरों ने राजा की आज्ञा को देव आज्ञा मानकर तुरन्त ही एक नर युगल को ले जाने के लिए प्रस्थान किया।

उसी समय पूर्वोक्त क्षुल्लक युगल ने भक्तिपूर्वक मुनिराज को नमस्कार किया तथा आहार लेने की इच्छा से वे नगर की तरफ जाने लगे। वह क्षुल्लक युगल उन नौंकरों के रास्ते में ही जा रहा था जो कि बलि के लिए नर युगल की खोज में निकले थे। वे क्षुल्लक युगल को देखकर परस्पर में कहने लगे कि देवी की बलि के लिए यह युगल राजा को बहुत पसन्द आयेगा।

क्षुल्लक युगल ने उन लोगों की यह भयङ्कर बात सुन ली और निर्भय होकर वहीं रुक गये। वे लोग भी इस रूपवान क्षुल्लक युगल को पकड़कर राजा मारीदत्त के पास ले गये।

जब क्षुल्लक युगल, राजा मारीदत्त के समीप आया तो देवता के चरणों में हाथ में भयङ्कर तलवार के साथ राजा को देखा। दोनों ने एक साथ राजा को 'जयवान रहो' कहा और तुम सम्पूर्ण हो, सूर्य के समान सुन्दर हो, निर्मल हो और कुन्द वृक्ष के समान

तुम्हारा यश निर्मल है, राजन! तुम जयवन्त रहो।

राजा ने मेघ की गर्जना के समान गम्भीर क्षुल्लक युगल की जयध्वनि सुनी, मनुष्य और स्त्री के समस्त लक्षणों से सम्पन्न देखा और उनसे पूछने लगा – भद्र! इस अतिशय रूप से तुम किस कुल को प्रकाशित करते हो? अत्यन्त सुन्दर होने पर भी किस कारण से तुम लोगों ने ऐसी कठिन तपस्या धारण की है?

जब क्षुल्लक युगल ने मारीदत्त की स्नेहपूर्ण बात सुनी, तब उन्होंने बालक, वृद्ध और युवाओं से भरी सभा में अपने तप का कारण तथा राजा यशोधर आदि का समस्त वृतान्त विस्तार से सुनाया। जिसे सुनकर उपस्थित जनता महान आश्चर्य में पड़ गई। इतना ही नहीं, इस घटनाक्रम से ऐसा प्रभाव पड़ा कि समस्त जनता ने देवी के सामने जीव वध छोड़ दिया और सब शान्त हो गये।

जब कुलदेवी ने भी सम्पूर्ण कथा सुनी तो उसने भी अपना भयङ्कर स्वरूप छोड़ दिया और सौम्यरूप धारण किया। उसने भावपूर्वक क्षुल्लक युगल को तीन प्रदक्षिणा की और अर्घ्य चढ़ाया। तत्पश्चात् वह हाथ में कलश लेकर क्षुल्लक युगल के चरणों में झुक गई। क्षुल्लक युगल के प्रति उसकी भक्ति और प्रेम एकदम उछल पड़ा तथा सम्पूर्ण जनता के सामने क्षुल्लक महाराज से विनती करने लगी – हे क्षुल्लक महाराज! आप मुझ पर प्रसन्न होओ। दया करो और मुझे शीघ्र संसार समुद्र से पार उतारनेवाली जैन दीक्षा प्रदान करो।

क्षुल्लक महाराज ने देवी की बात सुनी, उस समय उसका हृदय भक्ति से गद्‌गद् था और वह हाथ जोड़कर खड़ी थी। क्षुल्लक महाराज कहने लगे – भद्र! उठो, देखो! तिर्यञ्च, नारकी और देवों के लिए इस दीक्षा का विधान नहीं है। मनुष्य ही यह दीक्षा ले सकता है।

क्षुल्लक महाराज की बात सुनकर देवी एकदम विनय से झुक गई। वह कहने लगी – स्वामिन्! यदि मुझ अभागिन को दीक्षा नहीं तो मेरे धर्म के अनुकूल धर्म का उपदेश अवश्य प्रदान करें।

क्षुल्लक महाराज ने देवी से कहा कि देवी-देवताओं के लिए दो प्रकार का धर्म है – सम्यक्त्व का लाभ और जिनपूजा परन्तु नारकियों के लिए तो जिन पूजा भी दुर्लभ है। वे तो मात्र त्रैलोक्य के चूड़ामणि सम्यक्त्व का ही लाभ ले सकते हैं, परन्तु तिर्यञ्चगति के जीव सम्यक्त्व के साथ-साथ कृत-कारित और अनुमोदनापूर्वक सम्पूर्ण मानव धर्म (श्रावक धर्म) का पालन कर सकते हैं। चण्डमारी देवी ने अत्यन्त भक्ति से महाराज का प्रवचन सुना और सम्यक्त्व व जिनपूजा को धारण किया। इस प्रकार चण्डमारी देवी ने सम्यक्त्व -सहित जैनधर्म को धारण किया और समस्त जनता के साथ मारीदत्त राजा से कहने लगी –

राजन! आज दिन से कोई भी मनुष्य मेरे लिए प्राणी हिंसा नहीं करें। सभी अत्यन्त शान्ति से रहें और यदि समझाने व रोकने पर भी कोई प्राणी हिंसा करेगा तो मैं उसके सम्पूर्ण परिवार को मार दूँगी। देवी ने मारीदत्त राजा से इतना कहा और क्षुल्लक युगल को प्रणाम करके अपने स्थान को चली गई।

जब देवताओं ने इस घटना को सुना तो वे आकाश में से

क्षुल्लक महाराज ने ऊपर सहर्ष दुन्दुभियाँ बजाने लगे तथा उन्होंने प्रसन्न हृदय से क्षुल्लक युगल को धन्यवाद दिया और जय-जय शब्दों के साथ उन पर पुष्प मालाएँ बरसाने लगे। यहाँ जब मारीदत्त ने मुर्गे के वध से उत्पन्न हुई अत्यन्त दुःख परम्परा को सुना तथा देवताओं का आश्चर्य देखा तो वह क्षुल्लक महाराज से विनती करने लगा - स्वामिन! आप मुझे भवनाशिनी जिनदीक्षा प्रदान करें, जिससे मैं भी आपकी दया से आत्महित साध सकूँ।

यह बात सुनकर क्षुल्लक महाराज मारीदत्त से कहने लगे - राजन! मैं तुमको जिनदीक्षा नहीं दे सकता। हमारे गुरु निर्मल ज्ञानी हैं, वे तुम्हें जिनदीक्षा देंगे।

जब मारीदत्त राजा ने क्षुल्लक महाराज की बात सुनी तो उसका मन कौतूहल से भर गया तथा वह विशुद्ध हृदय से विचारने लगा कि देखो, नगरी की समस्त जनता और सामन्तगण मेरे चरण के नजदीक पड़े रहते हैं और मैं बलवान होकर भी देवता के चरणों में पड़ा था; देवता भी क्षुल्लक महाराज के चरण युगल में नतमस्तक हो गये और अब इन क्षुल्लक युगल के भी कोई अन्य महान गुरु हैं। राजा विचारता है कि धन्य है मुनिजनों के आश्यर्चकारी तप के महात्म्य को, जो कि तपस्वीजन, देवता और असुरों द्वारा भी पूज्य है।

❖ ❖ ❖

राजा मारीदत्त का चित्त भी जिनधर्म के उपदेश से पवित्र हो गया था और बुद्धि एकदम विशुद्ध। वह क्षुल्लक महाराज के समीप गभीर भाव से बैठ गया। इतने में आचार्य सुदत्त ने अपने दिव्यज्ञान से वीर क्षुल्लकों पर आये उपसर्ग तथा बुद्धिमान मारीदत्त

राजा का धर्म धारण करना व दीक्षा लेने के भाव को जान लिया और वे क्षुल्लक युगल के पास आ पहुँचे।

मारीदत्त राजा ने अपनी स्त्रियों, सामन्तों, भाई-बन्धुओं के साथ आचार्यश्री के चरणों में नतमस्तक होकर महाविनय के साथ उनकी पूजा की और जिनदीक्षा प्रदान करने के लिए प्रार्थना करने लगा। उसने अपने पुत्र के राज्य पटट बाँधा और पुरोहित, महामात्य, सामन्त तथा अन्त:पुर परिवार के साथ सुदत्त महाराज के समीप दीक्षित हो गया।

क्षुल्लक युगल ने भी एक दिन विरक्त होकर क्षुल्लक धर्म से ऊपर उठकर अपने गुरु महाराज से जिन दीक्षा ले ली। इस युगल ने अपनी आयु के अन्तिम समय में चार प्रकार का आहार का त्याग करके प्रयोगमन संन्यास ले लिया तथा तीन पहर के अन्दर समाधिपूर्वक शरीर छोड़कर स्वयंप्रभ विमान में देव हो गया।

यह आश्चर्य देखकर कितने ही लोग मुनि हो गये, कितने ही श्रावक बन गये और कितने ही तटस्थ रहे। सुदत्त मुनिराज ने विविध् चार प्रकार की आराधना की और अन्त में स्वर्ग में पहुँचे। मारीदत्त राजा ने भी चार प्रकार की आराधानाओं का आराधन किया, सम्यग्दर्शन से पवित्र हुए और अपने भावों के अनुसार यथायोग्य स्वर्ग में गये।

(इस प्रकार संसार में जो प्राणी असावधान होकर एक जीव का भी वध करता है, वह अनेक भवों तक संसार परिभ्रमण करता रहता है। यह वैराग्य प्रेरक कथा बहुत ही संक्षेप में साररूप दी है। इस कथा का रोमाञ्चकारी विस्तार जानने के लिए यशोधर चारित्र पढ़ना चाहिए।) ●

- यशोधर चरित्र से सार संक्षेप

4

भगवान नेमिनाथ के पितामह अंधकवृष्टि का भूतकाल

पापी से परमात्मा

इस जम्बूद्वीप की अयोध्यानगरी में अनन्तवीर्य नाम का राजा राज्य करता था। उसी नगरी के कुबेर के समान धनी सुरेन्द्रदत्त नाम का सेठ रहता था। वह सेठ प्रतिदिन दस दीनार से; अष्टमी को सोलह दीनार से; अमावस्या को चालीस दीनार से, चतुर्दशी को अस्सी दीनार से अरहन्त भगवान की पूजा करता था और उपवास करता था। इन सब कारणों से सेठ ने 'धर्मशील' नाम का पद प्राप्त किया था।

एक दिन सेठ ने जलमार्ग से परदेश जाकर धन कमाने की इच्छा व्यक्त की। उसने बारह वर्ष में वापस आने का विचार किया था; इस कारण बारह वर्ष तक भगवान की पूजा करने के लिए जितना धन चाहिए था, उतना धन अपने मित्र रुद्रदत्त ब्राह्मण को सौंपकर कहा कि हे मित्र! इस धन से तू जिनपूजादि कार्य करते रहना, कारण कि तू मेरे समान है।

सेठ के परदेश जाने के पश्चात् रुद्रदत्त ब्राह्मण ने थोड़े ही दिनों में समस्त ही धन परस्त्री तथा जुआ आदि व्यसनों में खर्च कर दिया। उसके बाद वह चोरी आदि कार्य करने लगा। एक

रात श्येनक नाम के कोतवाल ने उसे चोरी करते देखकर कहा कि तू ब्राह्मण है; अत: मैं तुझे मारता नहीं हूँ, परन्तु तू यह नगर छोड़कर चला जा। यदि फिर किसी समय तुझे ऐसा काम करते देख लिया तो मैं तुझे यमराज के पास भेज दूँगा–मार दूँगा – ऐसा कहकर कोतवाल उस ब्राह्मण पर क्रोधित हुआ। रुद्रदत्त भी वहाँ से निकलकर उल्काभिमुख पर रहनेवाले भीलों के स्वामी पापी कालक से जा मिला।

❖ ❖ ❖

एक बार रुद्रदत्त अयोध्यानगरी में गायों के समूह का अपहरण करने आया। वहाँ श्येनक कोतवाल द्वारा मारे जाने से वह देवद्रव्य का भोग तथा चोरी आदि के महापाप के कारण से अधोगति में (सातवें नरक) पहुँच गया। वहाँ से निकलकर मगरमच्छ हुआ, फिर नरक गया; पुन: सिंह होकर नरक गया, नरक से निकलकर दृष्टिविष नाम का सर्प हुआ, फिर नरक गया और वापिस सर्प बना, फिर नरक गया और वहाँ से आकर भील बना। इस प्रकार सभी नरकों में जाकर बहुत दु:ख और कष्टों में से बाहर निकलकर त्रस–स्थावर योनियों में बहुत काल तक परिभ्रमण करता रहा।

अन्त में इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र सम्बन्धी कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में जब राजा धनंजय राज्य करता था, तब गौत्तम गोत्री कपिष्टल नाम के ब्राह्मण के अनुन्धर नाम की अन्ध स्त्री से वह रुद्रदत्त का जीव अत्यन्त गरीब परिवार में गौतम नाम का पुत्र हुआ। पुत्र उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण परिवार का नाश हो गया। उसे खाने के लिए अन्न नहीं मिलता था, उसका पेट सूख गया था और हड्डियाँ दिखने लगी थी। नसें दिखने से

उसका शरीर बहुत भयानक लगता था। उसके बालों में लीखें पड़ी थी। जहाँ भी वह सोता, वहाँ के मनुष्य उसे मारते थे। अपनी शरीर की स्थिति के लिए, कभी भी अलग न हो – ऐसे मित्र समान भिक्षापात्र वह सदा अपने हाथ में रखता था। इच्छित रस पाने को वह हमेशा ''दो, दो'' ऐसे शब्दों द्वारा मात्र भीख माँगने से ही सन्तोष प्राप्त करने का लालची था, परन्तु इतना अभागा था कि भिक्षा द्वारा उसका पेट नहीं भरता था। जिस प्रकार त्योंहार के दिनों में कौआ खाना ढूँढ़ने के लिए इधर-उधर भटकता रहता है; उसी प्रकार वह भी भिक्षा प्राप्त करने के लिए इधर-उधर भटकता रहता था। वह मुनियों की तरह सर्दी-गर्मी और हवा के झपट्टे बारम्बार सहन करता था। वह हमेशा गन्दा रहता था। मात्र रसनेन्द्रिय के विषय की इच्छा रखता था, अन्य सभी इन्द्रियों का रस छूट गया था।

जिस प्रकार राजा हमेशा दण्डधारी होता है; वैसे ही यह भी हमेशा दण्डधारी ही रहता था – हाथ में लकड़ी रखता था। 'सातवें नरक में उत्पन्न होनेवाली नारकी का रूप ऐसा होता है' – मानों यह बताने के लिए ही विधाता ने इसकी रचना की हो। वह आद अथवा स्याही का रूप धारण करता था अथवा मानो सूर्य के भय से अन्धकार का समूह मनुष्य का रूप धारण करके चल रहा हो – ऐसा लगता था। तात्पर्य यह है कि वह अत्यन्त घृणास्पद था, पापी था। यदि उसे किसी दिन कष्टपूर्वक पूर्ण आहार मिल जाता तो भी आँखों से अतृप्त जैसा लगता था। वह जीर्ण-शीर्ण और फटे हुए कपड़े अपनी कमर में बाँधे रखता था। उसका शरीर बहुभाग चोटों से युक्त था, उसमें से दुर्गन्ध आती

थी। उसे भिनभिनाती मक्खियाँ हमेशा घेरे रहती थी, कभी हटती नहीं थी। मक्खियों के चिपकने से उसे बहुत गुस्सा आता था। नगर के बालकों का झुण्ड हमेशा उसके पीछे-पीछे रहता था और पत्थर आदि प्रहारों से उसे पीड़ा पहुँचाता था। वह क्रोधित होकर उन बालकों के पीछे दोड़ता भी था, परन्तु बीच में ही गिर जाता था। इस प्रकार वह अनेक कष्टपूर्वक अपने दिन बिता रहा था।

अहा! देखो तो सही! जीव के पापपरिणामों का दु:खप्रदायक फल!! थोड़े से इन्द्रियजन्य सुख के लिए हँस-हँसकर पाप बाँधनेवाला अज्ञानी प्राणी भूल जाता है कि इस पापोदय का फल उसे रो-रोकर भी भोगना पड़ेगा।

❖ ❖ ❖

किसी एक समय कालादिलब्धियों की अनुकूल प्राप्ति से वह आहार के लिए नगर में भ्रमण करनेवाले समुद्रसेन नाम के मुनिराज के पीछे जाने लगा। मुनिराज का आहारदान श्रवण सेठ के यहाँ हुआ। सेठ ने उस गौतम ब्राह्मण को भी भरपेट भोजन करा दिया। भोजन करने के बाद वह मुनिराज के आश्रम में जाकर कहने लगा – हे प्रभो! आप मुझे अपने जैसा बना दो।

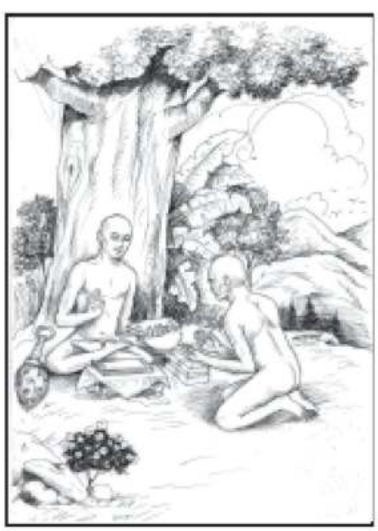

मुनिराज ने उसके वचन सुनकर पहले तो यह निर्णय किया कि यह वास्तव में भव्य है। फिर

उसे कुछ दिनों तक अपने पास रखकर उसके हृदय की परख की, तत्पश्चात् मुनिराज ने उसे शान्ति का साधनभूत संयम ग्रहण करा दिया। उसको एक वर्ष पश्चात् बुद्धि आदि ऋद्धियाँ भी प्राप्त हो गईं।

अब वह गौतम ब्राह्मण गुरु के स्थान तक पहुँच गया, उनके समान बन गया। आयु के अन्त में उसके गुरु मध्यम ग्रैवेयक के सुविशाल नाम के उपरितन विमान में अहमिन्द्र हुए और श्री गौतम मुनिराज भी अन्त में भले प्रकार से विधिपूर्वक आराधनाओं की आराधना करके समाधिमरण करके उसी मध्यम ग्रैवेयक के सुविशाल विमान में अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुए। वहाँ के दिव्यसुख का उपभोग प्राप्त करके वह ब्राह्मण मुनि का जीव अट्ठाईस सागर की आयु पूर्ण होने पर वहाँ से चयकर अन्धकवृष्टि (श्री नेमिनाथ भगवान के दादाजी) नाम का राज हुआ।

एक बार उसने सुप्रतिष्ठित जिनेन्द्र के समीप जाकर अपने पूर्व भव के सम्बन्ध में पूछा। भगवान के श्रीमुख से अपने पूर्व भवों का वृतान्त सुनकर वह संसार ये भयभीत हो गया, अत: परमपद–मोक्षपद प्राप्त करने की इच्छा से अपने पुत्र समुद्रविजय को अभिषेकपूर्वक राज्य सौंप दिया और स्वयं समस्त ही परिग्रह छोड़कर, शान्तचित्त होकर उन्हीं सुप्रतिष्ठित जिनेन्द्र के समीप बहुत राजाओं के साथ तप धारण कर लिया। इस प्रकार संयम धारण करके अन्त में समाधिमरण किया और कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लिया।

देखो! चैतन्यस्वभाव की अद्भुतता!! कहाँ तो रुद्रदत्त के

भव में अनेक प्रकार के पापपरिणामों से लिप्त एवं उसके फल में नरकादि गतियों का परिभ्रमण!! और कहाँ जैनेश्वरी दीक्षा और देव का भव! स्वरूप की अनवरत आराधना से मुक्ति का लाभ!! अहा! एक समय का पापपरिणाम अथवा पुण्यपरिणाम, चैतन्य के शुद्धस्वरूप का स्पर्श भी नहीं करता!! अहो! पुण्य-पाप की विकारी वृत्तियों के समय भी उनसे अलिप्त शुद्ध चैतन्यस्वभाव की एकमात्र आराध्य एवं उपास्य है। उसी की उपासना मुक्ति प्रदायिनी है। ● *(- हरिवंशपुराण में से)*

गृहस्थ को केवलज्ञान की योग्यता का अभाव

वस्त्रादि परिग्रहवाले गृहस्थ धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है, परन्तु वस्त्रसहित दशा में वह केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, उसको मुनिदशा नहीं होती। अहो! यह तो अन्दर का एकदम निवृत्तिमय शान्तमार्ग है। आत्मार्थी को वस्त्र-पात्र की उपाधि और उन्हें रङ्गने इत्यादि की प्रवृत्ति, अन्तरङ्ग में रुचिकर नहीं लगती। मुनिराज तो वस्त्र-पात्ररहित, उपाधिरहित होते हैं। आत्मानन्द के अनुभव की श्रेणी में गतिशील मुनि को बाहर की उपाधि क्यों हो? जिसके हृदय में वस्त्रादि परिग्रह की मूर्च्छा होने पर भी, जो अपने को मुनि मानता है, वह जीव वीतरागमार्ग को नहीं जानता। वीतरागमार्ग में सन्त मुनिराज को परिग्रह की मूर्च्छा और आरम्भ की वृत्ति नहीं हो सकती।

(- प्रवचनसार, 221, सद्गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, 21-4-1951)

5

क्षण भर में बदले परिणाम

जम्बूद्वीप स्थित मंगला देश के अलका नगर में एक धरणीजड़ नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम अग्निला था। उसके दो पुत्र थे। एक का नाम इन्द्रभूति दूसरे का नाम अग्निभूति था। वे दोनों भाई मिथ्याज्ञानी थे। उसी ब्राह्मण के अशुभकर्म के उदय से कपिल नाम का दासी पुत्र था, वह तीक्ष्ण बुद्धिवाला था। जब धरणीजड़ अपने दोनों पुत्रों को वेद पढ़ाता, तब उसे सुनकर कपिल भी सब याद कर लेता था। कपिल के वेद पढ़ने का रहस्य जानकर उस ब्राह्मण ने उसे घर से निकाल दिया परन्तु कपिल बाहर जाकर भी शीघ्र ही वेद-वेदान्त का पारगामी हो गया।

❖ ❖ ❖

इसी जम्बूद्वीप के मलय देश में रत्नसंचयपुर नाम का नगर था। वहाँ अपने पूर्वोपार्जित पुण्यकर्म के उदय से श्रीषेण नाम का राजा (भावी शान्तिनाथ) राज्य करता था। वह राजा कांतिवाला था, अत्यन्त रूपवान और नीतिमार्ग की प्रवृत्ति करानेवाला था, शूरवीर तथा धीरवीर था। राजाओं के द्वारा पूज्य और शत्रुओं को जीतनेवाला तथा गुणों का समुद्र था। वह जिनधर्म की आराधना

में अपना मन लगाता था। शास्त्रों का ज्ञाता और सत्यनिष्ठ था। वह सुखसागर में निमग्न था। हमेशा पात्रदान करता रहता था। जिनेन्द्रदेव की पूजा करने के लिये हमेशा तैयार रहता था। गुरुओं में भक्ति भाव रखता था। सदाचारी, विवेकी, पुण्यवान, और उत्तम था। वह हार, कुण्डल, मुकुटादि आभूषणों से सुशोभित था और अपने रूप से कामदेव को भी जीतता था। इस प्रकार राज्य लक्ष्मी को वश में करनेवाला श्रीषेण राजा अपने शुभकर्म के उदय से न्यायपूर्वक अपनी प्रजा का पालन करता था। उस श्रीषेण के पुण्यकर्म के उदय से रूपवती, लावण्यवती तथा अनेक शुभ लक्षणों से सुशोभित सिंहनिन्दिता और अनिन्दता नाम की दो रानियाँ थीं। सिंहनिन्दिता के चन्द्रमा के समान अत्यन्त रूपवान तथा शुभलक्षणों से सुशोभित इन्द्र नाम का पुत्र था और धर्म के प्रभाव से अनिन्दिता के रूपवान, गुणवान व ज्ञान-विज्ञान में पारगामी उपेन्द्र नाम का पुत्र था। जिस प्रकार पापों का नाश करनेवाले मुनिराज सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार शत्रुओं को जीतनेवाला वह राजा दोनों सुन्दर पुत्रों से शोभायमान होता था।

उसी नगर में सात्यकी नामक ब्राह्मण रहता था। उसकी सहधर्मिणी का नाम जम्बू था। उनके गुणों से सुशोभित सत्यभामा नाम की पुत्री थी। धरनीजड़ का दासी पुत्र कपिल जनेऊ धारण करके ब्राह्मण के रूप में रत्नसंचयपुर नगर में आया। उसको रूपवान एवं वेदों का पारंगत जानकर सात्यकी अपने घर ले आया और उसके साथ अपनी पुत्री सत्यभामा का विवाह कर दिया। जब रात्रि में सत्यभामा को कपिल की नीच चेष्टाओं का

पता लगा, तब उसको 'यह उच्च कुल का नहीं है' – यह चिन्ता होने लगी। वह विचारने लगी कि मनुष्यों को जहर पी लेना अच्छा है, सर्प की संगति अच्छी है, जलती हुई अग्नि में कूद पड़ना अथवा पानी में कूद पड़ना अच्छा है परन्तु नीच मनुष्यों की संगति करना अच्छा नहीं है – ऐसा जानकर वह पवित्र हृदयवाली धीर-वीर सती सत्यभामा, कपिल से विरक्त हो गई और अपने मन में हमेशा दु:खी रहने लगी।

इधर कर्म संयोग से धरणीजड़ गरीब हो गया। जब उसने कपिल के वैभव की बात सुनी तो वह धन की अभिलाषा से उसके पास आया। कपिल ने लोगों से कहा कि यह मेरे पिता है, अत: लोगों ने उसका आदर-सत्कार किया। वह ब्राह्मण सुखपूर्वक कपिल और सत्यभामा के साथ रहने लगा।

एक दिन सत्यभामा, धरणीजड़ ब्राह्मण को बहुत सारा धन देकर अत्यन्त विनय से कपिल के कुल के सम्बन्ध में पूछने लगी। ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि हे पुत्री! इस दुष्ट ने ब्राह्मण का कपटी वेश धारण किया है।

आचार्य कहते हैं कि देखो! कुटिलता से पैदा हुआ मूर्खों का महा पाप भी कुष्ट रोग के समान प्रगट हो जाता है।

यह सुनकर पुण्यशालिनी सत्यभामा ने अपने शीलभंग के डर से कपिल का त्याग कर दिया। उसने रणवास में जाकर राजा की शरण ग्रहण कर ली। कपिल ने इतने दिनों तक कपट करने का पाप किया था, इसलिए राजा ने उसे गधे पर बैठाकर अपने देश से बाहर निकाल दिया। दान, पुण्य आदि गुणों से शोभायमान

और शीलव्रत से विभूषित सती सत्यभामा रणवास में सुखपूर्वक रहने लगी।

❖ ❖ ❖

पुण्योपार्जन करने में हमेशा तत्पर श्रीषेण राजा पात्रदान देने के लिये प्रतिदिन स्वयं भावना भाता था। एक दिन अभिगति और अरिंजय नामक दो आकाशगामी चारणमुनि उसके घर पधारे। वे दोनों मुनिराज समस्त प्रकार के परिग्रहों से तो रहित थे, परन्तु गुणरूपी सम्पदा से रहित नहीं थे। उनका सम्पूर्ण शरीर तपस्या से क्रश हो गया था। वे रागद्वेष से सर्वथा विमुक्त थे, वे सभी जीवों का हित करनेवाले थे और धीर-वीर सदा ज्ञान-ध्यान में उत्साहित रहते थे। वे मुनिराज स्त्रियों की वांछा से रहित थे, तथापि मुक्तिरूपी स्त्री में अत्यन्त मोहित थे। मनुष्य और देव सभी उनकी पूजा करते थे। वे तीनों काल सामायिक करते थे और रत्नत्रय से सुशोभित थे। वे इच्छा और अभिमान से रहित थे। मूलगुण और उत्तरगुणों की खान थे तथा भव्य जीवों को संसाररूपी समुद्र से पार करने के लिये जहाज के समान थे। वे ज्ञानरूपी महासागर के पारगामी थे। पृथ्वी के समान क्षमा के धारक थे तथा कर्मरूपी ईंधन को जलाने के लिये अग्नि के समान थे। वे जल के समान स्वच्छ हृदयवाले थे। वायु के समान सब देशों में विहार करनेवाले थे। अपने धर्म का उद्योत करनेवाले थे। दोनों मुनि चौरासी लाख उत्तरगुणों से विभूषित थे तथा शील के अट्ठारह हजार भेदों से सुशोभित थे। ऐसे दोनों मुनिराज आहर के लिये राजा के यहाँ पधारे।

जिस प्रकार अपरिमित खजाना देखकर गरीब मनुष्य प्रसन्न

होता है; उसी प्रकार मनुष्यों को मोक्ष करानेवाले दो मुनिराजों को अपने आँगन में देखकर राजा श्रीषेण अत्यन्त आनन्दित हुआ। राजा ने मस्तक झुकाकर दोनों मुनिराजों के चरणों में नमस्कार किया तथा 'तिष्ठ–तिष्ठ' कहकर दोनों को विराजमान किया। उत्कृष्ट दान देने में तत्पर उस राजा के श्रद्धा, शक्ति, निर्लोभपना, भक्ति, ज्ञान, दया और क्षमा – ये दाताओं के सात गुण प्रगट हुए थे। प्रतिगृह, उच्च स्थान, पादप्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, कायशुद्धि, वचनशुद्धि, मनशुद्धि और आहारशुद्धि – ये नौ प्रकार की भक्ति – नवधाभक्ति गुणों की खान कहलाती है। दान के समय राजा ने यह नवधाभक्ति की थी। जो विशुद्ध हो, प्रासुक हो, मिष्ट हो; कृत आदि दोषों से रहित हो, मनोज्ञ हो और छहों रसों से परिपूर्ण हो तथा ध्यान–अध्ययन आदि का वृद्धिकारक हो, उसे श्रेष्ठ आहार कहते हैं। उपरोक्त सातों गुणों से सुशोभित उस राजा ने मोक्ष प्राप्त करने के लिये उन दोनों चारण मुनियों को विधिपूर्वक तृप्त करनेवाला उत्तम भोजन दिया। राजा की दोनों रानियों ने श्रेष्ठ दान की अनुमोदना की और भक्तिपूर्वक सुश्रुषा, प्रणाम, विनयादि द्वारा बहुत पुण्य प्राप्त किया। सत्यभामा ब्राह्मणी ने भी अत्यन्त भक्ति और विनयभाव से मुनिराजों की आदर–सत्कार द्वारा सेवा की। अत: उसे भी रानियों के

समान पुण्य प्राप्त हुआ। सत्य है कि अच्छे परिणामों से क्या-क्या नहीं मिलता।

दोनों मुनिराजों ने समभाव से आहार लिया और उस घर को पवित्र करके शुभाशीर्वाद देकर वे आकाशमार्ग से गमन कर गये। उस दान से उत्पन्न हुए आनन्दरस से जिसका मन अत्यन्त तृप्त हो रहा है – ऐसा वह राजा अपने को कृतकृत्य मानने लगा और अपने गृहस्थाश्रम को सफल मानने लगा।

❖ ❖ ❖

कौशाम्बी नगर में पुण्यकर्म के उदय से महाबल नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम श्रीमती था। उन दोनों के श्रीकान्ता नाम की पुत्री थी। रूप-लावण्य आदि गुणों से विभूषित श्रीकान्ता का विवाह राजा श्रीषेण के पुत्र इन्द्र के साथ विधिपूर्वक हुआ था। उसी राजा के अनन्तमती नाम की विलासिनी थी। जो रूपवती तथा गुणवती थी। राजा ने स्नेह भेंट स्वरूप वह विलासिनी श्रीकान्ता को प्रदान की परन्तु अनन्तमती (विलासिनी) रूपवान उपेन्द्र में मोहित होकर उसके साथ कामभोग आदि करके भ्रष्ट हो गई। उस विलासिनी के लिये दोनों भाई इन्द्र और उपेन्द्र युद्ध करने लगे।

आचार्य कहते हैं कि देखो, मनुष्यों के ऐसे भोगादि सुखों को धिक्कार है कि जिनके लिये भाई-भाई में युद्ध हो।

यह बातें सुनकर राजा श्रीषेण को अपनी आज्ञा भंग होने का बहुत ही दुःख हुआ। इस कारण वह विषफल सूंघकर मर गया। तत्पश्चात् घातकीखण्ड द्वीप में पूर्व मेरु की उत्तर दिशा में उत्तरकुरु

नाम की सुख देनेवाली भोगभूमि में लावण्य आदि से सुशोभित आर्य हुआ। सिंहनिन्दिता रानी भी उसी विषफल को सूंघकर मर गई और प्रदत्त दान से पैदा हुए धर्म के प्रभाव से उसी भोगभूमि में उसी आर्य को आर्या हुई। दूसरी रानी अनिन्दिता भी ऐसे ही मरकर स्त्रीलिंग छेदकर महापुण्योदय से उसी भोगभूमी में आर्य हुई और सत्यभामा ब्राह्मणी भी उसी प्रकार से प्राणों का त्याग करके धर्म के प्रभाव से उस अनिन्दिता आर्य की आर्या हुई। इस प्रकार शान्तिनाथ भगवान का जीव उन्नति क्रम में आगे बढ़कर बलभद्र, चक्रवर्ती, कामदेव, तीर्थकर आदि पद प्राप्त करके निज स्वरूप के साधन से मुक्ति प्राप्त करता है।

आचार्य कहते हैं कि देखो! अपमृत्यु तथा अपघात से मरकर भी केवल उस महादान के फलस्वरूप वे सब शुभगति को प्राप्त हुए; इसलिए कहते हैं कि दान देना उत्तम है।

❖ ❖ ❖

इधर दोनों भाई युद्ध कर रहे थे, परन्तु पूर्व भव के स्नेह के कारण मणिकुण्डल नामक विद्याधर ने आकर उनके युद्ध को रोक दिया और उनसे कहने लगा कि हे राजकुमारो! मैं एक कथा कहता हूँ, उसे तुम ईर्ष्याभाव छोड़कर, शान्तचित्त होकर सुनो! क्योंकि यह कथा तुम्हारा ही हित करनेवाली है।

❖ ❖ ❖

घातकीखण्ड द्वीप में पूर्व मेरु सम्बन्धी पूर्व विदेहक्षेत्र है। जो सद्धर्म और तीर्थंकरादि से सुशोभित है। उस क्षेत्र के पुण्यकलावती नामक देश में एक रुपाचल नाम का पर्वत शोभायमान है, जो कि ऊँचा है, जिन चैत्यालयों से विभूषित है

तथा मेरु के समान दिखता है। उस पर्वत की दक्षिण क्षेणी में आदित्याभ नाम का सुन्दर नगर है। उसमें पुण्यकर्म के उदय से कुण्डल से सुशोभित सुकुण्ड नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम अमिततेजसेना है। मैं उन दोनों का पुत्र बुद्धिमान मणिकुण्डल हूँ।

पुण्डरीकिणी नगरी में अतिप्रभ नामक केवली भगवान के पास जाकर, उनको नमस्कार करके मैंने अपने पूर्व भव की कथा पूछी थी। भगवान ने जो कथा मुझसे कही थी, वही कथा मैं तुम्हें कहना चाहता हूँ क्योंकि तीर्थंकर के मुख से पैदा हुई (कही हुई) वह कथा बहुत ही सुन्दर और तुम दोनों की हितकारक है।

देखो! पुष्कर द्वीप में जिन चैत्यालयों का आश्रयभूत पश्चिम मेरु पर्वत है, उसकी पूर्व तरफ त्रिवर्णाश्रम से सुशोभित विदेहक्षेत्र है। उसमें एक वितशोका नगरी है। उसमें चक्रायुध नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पुण्यशालिनी रानी का नाम कनकमाला था। कनकमाला की कनकलता तथा पद्मलता नाम की दो पुत्रियाँ थीं। उसी राजा की विदन्मती नाम की दूसरी पतिव्रता रानी थी। उसके पद्मावती नाम की पुत्री थी। सब मिलकर धर्म के प्रभाव से अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग करते थे।

एक दिन रानी कमनमाला पुण्यकर्म के उदय से अपनी दोनों पुत्रियों के साथ अमितसेना आर्यिका के पास पहुँची और उनके समीप जाकर नमस्कार किया तथा काललब्धि प्राप्त हो जाने से सबने गृहस्थों के व्रत स्वीकार किये। वे सब व्रतों का पालन

करके सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्त्रीलिंग को छेदकर सौधर्म स्वर्ग में महाऋद्धिधारी देव हुए। पद्मावती भी मरकर अपने पुण्योदय से सौधर्म स्वर्ग में एक अप्सरा हुई, जो कि अत्यन्त गुणवती थी। वे सभी देव, धर्म के प्रभाव से पैदा हुए इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले उत्तम सुख, ऋद्धियों और देवियों आदि के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए सुख का अनुभव करने लगे। अपनी आयु पूर्ण होने के बाद उन सभी ने वहाँ से चयकर पुनर्जन्म धारण किया। उनमें से कनकमाला का जीव मैं मणिकुण्डल; कनकलता, पद्मलता दोनों पुत्रियों का जीव, स्वर्ग से देव पर्याय छोड़कर अवशेष, पुण्यकर्म के उदय से तुम दोनों इन्द्र तथा उपेन्द्र नामक राजपुत्र हुए हो। पद्मावती का जीव, जो सौधर्म स्वर्ग में अप्सरा हुई थीं, वहाँ से चयकर यह रूपवती अनन्तमती विलासिनी बनी है।

मैं श्री अमितप्रभ तीर्थंकर के मुख से यह शुभ तथा उत्तम कथा सुनकर पूर्वजन्म के स्नेहवश तुमको समझाने आया हूँ।

इस कथा को सुनकर वे दोनों भाई अपनी निन्दा करके संसार से विरक्त होकर शुभकर्म के उदय से सुधर्म नामक मुनिराज के पास गये और मुनिराज को नमस्कार करके विरागी होकर बाह्य - अभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करके उत्कृष्ट संयम धारण किया। उन दोनों मुनिराजों ने शुक्लध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को शीघ्र ही जला दिया और तपस्या के फलस्वरूप केवलज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् वे दोनों शुक्लध्यानरूपी तलवार से समस्त कर्मों का नाश करके मोक्ष पधारे–अनन्त गुणों के पात्र बन गये। अनन्तमति ने भी श्रावक के

सम्पूर्ण व्रत धारण किये और धर्म के प्रभाव से स्वर्ग में उत्पन्न हुई। सत्य है कि सज्जनों के अनुग्रह से क्या-क्या प्राप्त नहीं होता।

देखो! श्री शान्तिनाथ के पूर्व के एक भव में उनके दो पुत्र एक दासी के लिये अन्दर ही अन्दर लड़ते हैं और फिर उसी प्रसंग को निमित्त बनाकर वैराग्य प्राप्त करते हैं। 'मैं वर्तमान में परिपूर्ण भगवान ही हूँ' - ऐसी दिव्य दृष्टि करके वे दोनों भाई शिवसुन्दरी को वरते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते थे कि पापी जीव भी चैतन्य की अनन्त शक्तिरूप सामर्थ्य के विश्वास से भव सागर से पार हो जाता है। ●

-श्री शान्तिनाथ पुराण में से

6

भगवान मल्लिनाथ के पूर्व भव का प्रेरक प्रसंग

रत्नत्रय की उपासना

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र.... जैनधर्म के सर्वोत्तम तीन रत्न.... आत्मा को महान आनन्द प्रदाता तीन रत्न.... इनकी महिमा लोकोत्तर है। यह रत्नत्रय सर्व मुमुक्षुओं का मनोरथ है। इस रत्नत्रय की प्राप्ति के लिये चक्रवर्ती भी छह खण्ड के साम्राज्य और चौदह रत्नों का अत्यन्त सहजता से परित्याग कर देते हैं। अहा... इन्द्र भी जिसके लिए तरस रहे हों, उस रत्नत्रय की प्राप्ति ही जैनशासन का सार है। वही जैनधर्म है। अहो! ऐसे सम्यक् रत्नत्रय के एक अंश की प्राप्ति से भी जीव का बेड़ा पार है।

आहा! जिस मूल्य द्वारा जीव को अनन्त काल का मोक्षसुख प्राप्त होता है, उस रत्नत्रय की क्या बात! समस्त जिनवाणी का सार एक शब्द में कहना हो तो वह है **रत्नत्रय....** उसी का विस्तार और उसी की प्राप्ति का उपाय जिनागम में भरा है।

वाह! वीतरागी रत्नत्रय! जीव की शोभा के लिए तुम्हारे समान सुन्दर दूसरा कोई आभूषण नहीं है। ऐसे रत्नत्रय द्वारा आत्मा को शृंगारित करने के लिये श्री समयसार परमागम में

आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं कि हे भव्य! दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप मोक्षपन्थ में आत्मा को जोड़! जिनेन्द्र भगवन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्र को मोक्षमार्ग कहते हैं क्योंकि वे आत्माश्रित होने से स्वद्रव्य है। जो जीव अपने चारित्र, दर्शन, ज्ञान में स्थित है, वह स्वसमय है – ऐसा हे भव्य तू जान... और यह जानकर तू भी स्वसमय हो जा।

इस जगत की समस्त दुर्लभ वस्तुओं में रत्नत्रय सबसे दुर्लभ है। रत्नत्रय की आराधना नहीं करने से जीव दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करता है। रत्नत्रय की आराधना करनेवाला जीव, आराधक है और उसकी आराधना का फल केवलज्ञान है। इस रत्नत्रय की आराधना और उसकी व्रत कथा में भगवान मल्लिनाथ के पूर्व भव का उदाहरण प्रसिद्ध है। आप भी उसका अवलोकन कीजिये।

❖ ❖ ❖

मिथिलापुरी के राजा कुम्भ और महारानी सुप्रभा के पुत्र मल्लिकुमार, जो कि इस भरतक्षेत्र के 19 वें तीर्थङ्कर हुए, उन्होंने पूर्व भव में विदेहक्षेत्र में वैश्रमण नामक राजा थे, वहाँ वे अष्टाङ्ग सहित सम्यग्दर्शन, अष्टाङ्ग सहित सम्यग्ज्ञान और तेरह अंग सहित सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म का स्वरूप एक मुनिराज के श्रीमुख से श्रवण किया था। मुनिराज के उपदेशानुसार रत्नत्रयव्रत का विधान करके, अत्यन्त बहुमानपूर्वक उसका उद्यापन किया; तत्पश्चात् स्वयं भी संसार से विरक्त होकर, रत्नत्रयधर्म प्रगट करके, दर्शनविशुद्धि आदि सोलह उत्तम भावनापूर्वक तीर्थङ्कर नामकर्म बाँधकर, तीसरे भव में मल्लिनाथ तीर्थङ्कर होकर मोक्षपुरी

पधारे। उनकी यह कथा रत्नत्रय के प्रति बहुमान की भावना से यहाँ प्रस्तुत है।

❖ ❖ ❖

जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में इस भरतक्षेत्र में हम रहते हैं। इसके पूर्व भाग में पूर्व विदेहक्षेत्र है। वहाँ वीतशोका नामक एक सुन्दर नगरी है। मोक्ष के अभिलाषी धर्मात्माओं से परिपूर्ण इस नगरी में अनेक मुनिराज विचरण करते हैं.... ऊँचे-ऊँचे अनेक जिनमन्दिरों पर धर्मध्वजा फहरा रही है और फड़फड़ाहट से मानो कि देवों को चुनौती दे रही है कि हे भाई देवों! तुम्हें देवलोक में मुक्ति प्राप्त न होती हो तो उसे प्राप्त करने के लिए यहाँ आओ.... इस नगरी में केवली भगवन्त सदा विचरण करते हैं। यहाँ वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के अतिरिक्त दूसरी कोई प्रवृत्ति दिखायी नहीं देती.... एक शुद्ध जैनधर्म ही निरन्तर प्रवर्तता है।

तीर्थङ्कर मल्लिनाथ का आत्मा स्वयं पूर्व भव में इस मनोहर वीतशोका नगरी का राजा था.... उनका नाम वैश्रमण था। वे आत्मा के ज्ञाता थे और उनका चित्त सदा रत्नत्रय की भावना में लीन रहता था।

एक दिन राजा वैश्रमण राज्यसभा में विराजमान थे। उसी समय उनके उद्यान का माली आनन्दपूर्वक आकर कहने लगा - हे स्वामी! मैं एक उत्तम समाचार लेकर आया हूँ। आपकी नगरी के चन्दन वन में महाभाग्य से आज सुगुप्ति नामक महामुनिराज संघसहित पधारे हैं। जिस प्रकार साधक जीवों का बगीचा रत्नत्रयरूप परिणति से खिल उठता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण उद्यान का मौसम भी मुनिराज के शुभागमन से अनेकों सुन्दर फल-

फूलों से खिल उठा है। सारा उद्यान अत्यन्त शोभास्पद प्रतीत हो रहा है।

वनमाली के मुख से मुनिराज के शुभागमन के समाचार सुनते ही अत्यन्त हर्षित होकर राजा ने उस माली को मूल्यवान पुरस्कार प्रदान किया और स्वयं सिंहासन से उतरकर मुनिराज को परोक्ष वन्दना की। तत्पश्चात् सम्पूर्ण नगर में आनन्दभेरी बजवाकर समस्त नगरजनों सहित धूमधाम से मुनिराज की वन्दना के लिये गमन किया। मुनिराज के समीप जाकर सबने अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक उनकी वन्दना-पूजन और भक्ति की। तत्पश्चात् धर्मोपदेश श्रवण की इच्छा से मुनिराज के समीप बैठ गये।

करुणामूर्ति मुनिराजश्री ने समस्त धर्म पिपासुओं को मङ्गल आशीर्वाद प्रदान करते हुए कहा - हे राजन्! तुम्हें मोक्ष के कारणरूप रत्नत्रयधर्म की वृद्धि हो।

मुनिराज के आशीर्वाद से राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और कहा - हे प्रभु! आपके श्रीमुख से रत्नत्रयधर्म का स्वरूप सुनने की मुझे आकांक्षा हुई है। अतः कृपा करके रत्नत्रयधर्म का स्वरूप बतलाने की कृपा करें।

मुनिराज के श्रीमुख से मानो अमृत झरता हो, उसी प्रकार वाणी निकलने लगी। उन्होंने कहा - हे राजन! सुनो, यह संसार अनेक प्रकार के दुःखों से भरा हुआ है। उन दुःखों से छुड़ाकर अनन्त सुख के धाम मोक्षदशा को प्राप्त करानेवाली परिणति का

नाम धर्म है। वह धर्म, अर्थात् मोक्षमार्ग – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसे त्रिरत्नस्वरूप है। उसे पहचानकर उसकी आराधना करो।

अत्यन्त जिज्ञासापूर्वक राजा ने पूछा – हे प्रभु! इस रत्नत्रय धर्म में से प्रत्येक धर्म का स्वरूप आपके श्रीमुख से श्रवण करने की सभा को आकाँक्षा है।

करुणामूर्ति सुगुप्ति मुनिराज कहने लगे – हे भव्य! सुनो, रत्नत्रय धर्म में सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन है। सर्वज्ञ वीतराग जिनवरदेव, निर्मोही निर्ग्रन्थ रत्नत्रयवन्त गुरु और उनके द्वारा कथित जीव-अजीव आदि सात तत्त्वों का स्वरूप भलीभाँति पहचानकर, उनमें से सारभूत भूतार्थ निज शुद्धात्मतत्त्व को अनुभूति में लेकर उसकी प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन है। शुद्धनय भूतार्थ है। शुद्धनय अर्थात् पर्यायमात्र से पार और गुणभेद से भी भिन्न एकरूप त्रिकाली ध्रुव वस्तु का अवलम्बन करना, अर्थात् उसी में अपनापन स्थापित करना, सम्यग्दर्शन कहलाता है। अरे, राग की तो बात ही क्या? **सम्यग्दर्शन के घर में स्वयं सम्यग्दर्शन के लिए भी कोई जगह नहीं है। उसने अपना कोना-कोना ध्रुव के लिए खाली कर दिया है।**

इस सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं।

❖ तलवार की तीक्ष्ण धार जैसा श्रेष्ठ जिनमार्ग ही सन्मार्ग है, उसमें किसी भी प्रकार की शंकारहित निश्चल रुचि करना **निःशंकित अंग** है।

❖ धर्म के फल में संसार सुख की वाँछा नहीं करना, किसी

भी विषय में, अर्थात् पुण्य-फल में सुख नहीं मानना, वह **निःकांक्षित अंग** है।

❖ स्वभाव से ही मलिन शरीरादिक को देखकर धर्मात्मा के प्रति घृणा नहीं करना, अपितु उनके गुणों में प्रीति करना, वह **निर्विचिकित्सा अंग** है।

❖ सुखकारक जिनमार्ग और दुःखकारक मिथ्यामार्ग का स्वरूप पहचानना और मिथ्यामार्ग में किसी भी प्रकार से सम्मति नहीं देना अथवा उसकी प्रशंसा नहीं करना, वह **अमूढ़दृष्टि अंग** है।

❖ दूसरे साधर्मी के अवगुणों को ढाँकना, वीतरागभावरूप जिनधर्म की वृद्धि करना तथा धर्म या धर्मात्मा की निन्दा के प्रसङ्ग को किसी भी उपाय से दूर करना, वह **उपगूहन अंग** है।

❖ किसी भी तीव्र दुःख इत्यादि कारण से अपना या पर का आत्मा धर्म में शिथिल होता दिखे तो वैराग्यभावना तथा जिनधर्म की महिमा द्वारा उसे धर्म में निश्चल-स्थिर करना, वह **स्थितिकरण अंग** है।

❖ अपने साधर्मी भाई-बहिनों के प्रति हृदय में उत्तमभाव रखकर उनका आदर-सत्कार करना, वह **वात्सल्य अंग** है।

❖ अपनी शक्ति द्वारा जैनधर्म की शोभा बढ़ाना, अज्ञान को दूर करके सम्यग्ज्ञान की महिमा प्रसिद्ध करके जिनशासन का उद्योत करना, वह **प्रभावना अंग** है।

मुनिराज के मुख से सम्यग्दर्शन का स्वरूप, विषय, और आठ अंगों का स्वरूप सुनकर राजा वैश्रवण अत्यन्त प्रमुदित हुआ। गद्गद वाणी से मुनिराज को प्रणाम करते हुए उसने पूछा

– हे प्रभु! सम्यग्दर्शन के आठ अंग और उसकी महिमा सुनने से मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है। अब, कृपा करके सम्यग्ज्ञान और उसके आठ अंगों का स्वरूप भी कहने का अनुग्रह करें।

राजा की धर्म पिपासा देखकर अकारण करुणासागर मुनिराज ने कहा – हे राजा! जिनमार्ग के देव-शास्त्र-गुरु तथा उनके द्वारा कथित जीवादि नौ तत्त्वों का स्वरूप पहचानकर, परभावों से भिन्न अपने ज्ञानमय शुद्ध आत्मा की अनुभूतिरूप ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन के साथ ऐसा सम्यग्ज्ञान नियम से होता है। वह सम्यग्ज्ञान आठ प्रकार के विनय से सुशोभित होता है।

1. शब्द की शुद्धि, 2. अर्थ की शुद्धि, 3. शब्द तथा अर्थ दोनों की शुद्धि, 4. योग्य काल में अध्ययन, 5. उपधान, अर्थात् कोई नियम-तपसहित अध्ययन, 6. शास्त्र के विनयपूर्वक अध्ययन, 7. गुरु के प्रति उपकार बुद्धि प्रगट करना, अर्थात् ज्ञानदाता गुरु का नाम आदि नहीं छुपाना, वह अनिह्नवन और स्तुति पूजा इत्यादि समारोह द्वारा देव, गुरु, आगम का बहुमान प्रसिद्ध करना। इस प्रकार आठ प्रकार के विनय-आचार द्वारा सम्यग्ज्ञान सुशोभित होता है।

सम्यग्ज्ञान, अमृत के समान है। वही मोक्षमार्गी जीव की आँख है। सम्यग्ज्ञान चक्षु द्वारा सम्पूर्ण जगत ज्ञात होता है और वस्तुस्वरूप पहचानकर मोक्षमार्ग की साधना होती है। अत: नित्य ही सम्यग्ज्ञान की आराधना करना चाहिए।

राजा ने प्रसन्नतापूर्वक कहा – हे प्रभु! अब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक जिसका पालन आपके समान वीतरागी

मुनिराज करते हैं – ऐसे सम्यक्चारित्र का स्वरूप भी कृपा करके बतलाने का कष्ट करें।

चारित्रधारी मुनिराज ने सम्यक्चारित्र का स्वरूप बताते हुए कहा – हे राजन्! सुनो, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक शुद्धोपयोग द्वारा आत्मस्वरूप में लीन होना – विचरण करना, वह चारित्र है। चारित्र, साक्षात् धर्म है और मोह, क्षोभरहित आत्मा का साम्यभावरूप परिणाम ही चारित्र है। उस चारित्र में राग नहीं है। मुनियों को ऐसे शुद्धभावरूप चारित्र के साथ हिंसादि समस्त पापों का अभाव और अहिंसादि महाव्रतों का पालन होता है। इस कारण व्यवहार से चारित्र के तेरह प्रकार कहे जाते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह, यह पञ्च माहव्रत; मनगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति – ये तीन गुप्तियाँ; ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेपण, और प्रतिष्ठापन – ये पाँच समितियाँ। इस प्रकार तेरह प्रकार का व्यवहारचारित्र होता है।

यहाँ यह बात विशेषरूप से ध्यान रखना योग्य है कि अन्तरंग में तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक शुद्धपरिणति की विद्यमानता में ही इस तेरह प्रकार के शुभभावरूप परिणामों में व्यवहारचारित्र का उपचार किया जाता है। **व्यवहारचारित्र, अर्थात् वास्तव में अचारित्रभाव में किया गया चारित्र का उपचार**। यह शुद्धभावरूप वीतरागचारित्र, साक्षात् मोक्षसुख का कारण है.... इसकी महिमा अपरम्पार है। इस वीतरागचारित्र के साथ भूमिकानुसार पाये जानेवाला तेरह प्रकार का शुभभावरूप व्यवहारचारित्र बन्ध का, अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति का कारण है।

हे भव्य! इस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का स्वरूप बतलाया। इन तीनों को तुम रागरहित जानो।

हे मुमुक्षुजीवों! रत्नत्रय की अचिन्त्य महिमा जानकर उससे आत्मा को अलंकृत करो। सम्यग्दर्शनरूपी हार को तो गले लगाओ; सम्यग्ज्ञान के कुण्डल कानों में पहनो; और सम्यक्चारित्ररूपी मुकुट को मस्तक पर धारण करो। यह रत्नत्रय ही सिद्धान्त का सर्वस्व है। रत्नत्रय ही जीव का सच्चा जीवन है। शुद्ध निश्चयरत्नत्रय शुद्धात्मा के ही आश्रित होने से परम उत्तम है और मुक्ति का साक्षात् कारण है। उसकी प्राप्ति आत्मध्यान में होती है; इसलिए मुमुक्षु जीवों को पुरुषार्थपूर्वक इसकी आराधना करना चाहिए।

मुनिराज के श्रीमुख से रत्नत्रय की सुन्दर महिमा सुनकर वैश्रमण राजा ने कहा – हे प्रभु! इस रत्नत्रय को धारण करने की मेरी उत्कृष्ट भावना है परन्तु अभी मैं असमर्थ हूँ, अभी तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की आराधनापूर्वक चारित्र की भावना भाता हूँ। हे प्रभु! इस रत्नत्रय के प्रति परमभक्ति-बहुमानपूर्वक ठाठ-बाट से इसकी महान पूजा करने की मेरी भावना है; अत: इस रत्नत्रयव्रत का विधान समझाने की कृपा करें। उसके द्वारा मैं रत्नत्रय की भक्ति करूँगा और भविष्य में रत्नत्रय की साक्षात् आराधना करके चारित्र पद अंगीकार करूँगा।

श्री मुनिराज ने कहा – हे राजन्! तुम भव्य हो, तुम्हारी भावना उत्तम है। आगामी मनुष्यभव में तुम भरतक्षेत्र के तीर्थङ्कर होनेवाले हो। रत्नत्रय के प्रति तुम्हारी भक्ति प्रशंसनीय है। इस रत्नत्रय की उपासना का व्रत-विधान मैं संक्षिप्त में कहता हूँ, उसे सुनो!

भाद्र माह में शुक्ल पक्ष के 13, 14, 15 ये तीन दिवस रत्नत्रय विधान के उत्तम दिवस हैं। रत्नत्रयव्रत का उपासक जीव श्रद्धा, भक्तिपूर्वक पूर्व दिन जिनमन्दिर में जाकर पूजन करे, श्री गुरु के समीप जाकर आत्महितकारी जिनागम का श्रवण करे, मुनिराज का सुयोग बन जाये तो उन्हें तथा अन्य साधर्मीजनों को आदरपूर्वक आहार-दानादि करे और रत्नत्रय व्रत का संकल्प करके अत्यन्त आनन्द उल्लासपूर्वक उसका प्रारम्भ करे। तत्पश्चात् 13-14-15 तीन दिन उपवास करे, आरम्भ कार्य छोड़कर गृहवास से भी विरक्त रहे। सत्संग में और धर्मध्यान में रहकर रत्नत्रय के स्वरूप का चिन्तवन करे, उसकी प्राप्ति कैसे हो? उसका उपाय विचार कर अन्तर में प्रयत्न करे। प्रतिदिन जिनमन्दिर जाकर साधर्मीजनों के समूह के साथ ठाठ-बाट से जिनदेव की पूजा करके, रत्नत्रय धर्म की स्थापनापूर्वक महान उल्लासपूर्वक इसकी पूजा करे। उपासना विधि के दिनों में प्रतिदिन प्रात: काल वीतरागता के अभ्यासरूप अर्थात् शुद्धोपयोग के प्रयोगरूप सामायिक करना, दिन में तथा रात्रि में प्रमाद छोड़कर आत्मसन्मुख भावों का अभ्यास करना; रत्नत्रयवन्त मुनियों का जीवन चिन्तवन करके उसकी भावना करना और रत्नत्रयवन्त जीवों के प्रति बहुमान से रत्नत्रय की आनन्दमय भक्ति-चर्चा करके आत्मा को रत्नत्रय के प्रति उत्साहित करना भी कर्तव्य है।

इस प्रकार शुद्ध रत्नत्रय के प्रति तीव्र भक्ति और प्रेमपूर्वक महान आनन्द-उत्साहपूर्वक तीन दिन तक पूजनादि करके चौथे दिन उसकी पूर्णता के निमित्त महान उत्सवपूर्वक जिनेन्द्रदेव का अभिषेक करना, पूजन, शास्त्र श्रवण, धर्मात्माओं का सन्मान,

आहारदानादिक करके तत्पश्चात् प्रसन्नचित्त से स्वयं पारणा करना और इस प्रसंग में दानादि द्वारा धर्म प्रभावना करना चाहिए। इस प्रकार तीन वर्ष तक अथवा भावनानुसार पाँच या तेरह वर्ष तक करके देव-गुरु-धर्म की महान उत्सव भक्तिपूर्वक इस व्रत का उद्यापन करके तन-मन-धन से, शास्त्र से अनेक प्रकार से उल्लासपूर्वक रत्नत्रयधर्म का उद्योत हो और सर्वत्र उसकी महिमा प्रसारित हो, तदनुरूप प्रभावना करना चाहिए। जिनमन्दिर में तीन छत्र, तीन कलश, तीन शास्त्र इत्यादि अनेक प्रकार की तीन-तीन वस्तुओं का दान करना चाहिए। साधर्मियों का सन्मान करना चाहिए। हे राजन्! इस प्रकार रत्नत्रय व्रत का विधान जानो।

श्री मुनिराज के श्रीमुख से रत्नत्रय का विधान सुनकर राजा वैश्रमण को अत्यन्त हर्ष हुआ। मुनिराज के श्री चरणों में भक्ति भावपूर्वक वन्दना करके प्रजाजनों के साथ राजा अपने राजमहल में आ पहुँचा। उसने रत्नत्रय-व्रत विधान का महान उत्सव करके उसके उद्यापन द्वारा जैनशासन की महान प्रभावना की।

इस प्रकार धर्म का आचरण करते-करते एक दिन राजा वैश्रमण वन-विहार के लिये गया। जाते समय मार्ग में एक सुन्दर बड़ का वृक्ष देखा किन्तु वन से वापस नगर की ओर आते हुए उन्होंने देखा कि वह हरा-भरा वृक्ष बिजली गिरने से भस्मीभूत हो गया है। आह! संसार की ऐसी क्षणभंगुरता देखकर राजा का चित्त संसार से एकदम विरक्त हो गया। वह विचार करने लगा अरे! इस वट वृक्ष की तरह देखते-देखते यह शरीर, राजपाट आदि संयोगी चीजें क्षणभर में काल का ग्रास बन जानेवाली हैं। इस क्षणभंगुर संसार में कोई भी संयोग शाश्वत् दृष्टिगोचर नहीं

होता। एकमात्र निज शुद्ध आत्मा ही शाश्वत् ध्रुव, टंकोत्कीर्ण पदार्थ है। जिसका अवलम्बन संसार के अभाव का एकमात्र कारण है। जगत् में कोई शरण देनेवाला नहीं है। शाश्वत् शरण तो निज शुद्ध आत्मा ही है – इत्यादि प्रकार से उत्तम बारह वैराग्य भावनाओं के चिन्तवनपूर्वक राजा वैश्रमण संसार, शरीर, भोगों के प्रति एकदम उदासीन हो गया। उसका मन भगवती जिनदीक्षा अङ्गीकार करने के लिये तत्पर हो गया। अत: समस्त राजपाट का त्याग करके, राजा ने वन–जंगल की ओर प्रयाण किया।

❖ ❖ ❖

दूर से ही एक शिला पर श्रीनाग नामक मुनिराज को ध्यानस्थ देखकर राजा का मन अत्यन्त प्रमुदित हुआ और जैसे निधि पाकर दरिद्र मनुष्य के हर्ष का पारावार नहीं रहता; इसी प्रकार करुणामूर्ति मुनिराज के दर्शनमात्र से राजा को अत्यन्त प्रसन्नता हुई। मुनिराज के समीप पहुँच कर अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक उन्होंने मुनिराज के चरणों में अपनी वन्दना समर्पित करते हुए कहा – हे प्रभु! इस संसार में परिभ्रमण करते–करते मैं थक गया हूँ। अब इस जन्म–मरण के असह्य दु:ख सहन नहीं होते; अत: मैं आपके श्री चरणों में संसारवास का विनाश करनेवाली जिनदीक्षा अङ्गीकार करने आया हूँ।

मुनिराजश्री ने कहा – हे वत्स, तूने निज आत्मा के हित के लिए यह उत्तम विचार किया है। वास्तव में यदि दु:खों से परिमुक्त होने की इच्छा है तो श्रामण्य ही एकमात्र मार्ग है। तुम भी उसी मार्ग के पथिक बनकर मुक्ति सुन्दरी का वरण करो।

मुनिराज के समीप जिनदीक्षा धारण करके राजा वैश्रमण आत्मध्यानरूप शुद्धोपयोग द्वारा सम्यक्रत्नत्रयरूप दशा प्रगट करके मुक्तिमार्ग के साक्षात् आराधक बन गये। रत्नत्रयधारी उन मुनिराज ने दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारणभावनाओं द्वारा तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध कर दिया और द्वादशांग के ज्ञान से श्रुतकेवली भी हो गये। अनुक्रम से समाधिमरण करके वे वैश्रमण मुनिराज अपराजित विमान में अहमिन्द्र होकर इस भरतक्षेत्र

में बंग प्रान्त की मिथिला नगरी में अवतार लेकर रत्नत्रय धर्म के प्रताप से उन्नीसवें मल्लिनाथ तीर्थङ्कर हुए और अपनी दिव्यध्वनि द्वारा जगत् के जीवों को रत्नत्रय का मार्ग बतलाया। वह मार्ग आज भी जयवन्त वर्तता है। ●

(ब्रह्मचारी हरिलाल जैन द्वारा लिखित कथा के आधार पर)

7

सुबह का भटका

बहुत समय पूर्व उज्जैन नाम की प्रसिद्ध नगरी में धन्य-धान्य से परिपूर्ण नागदत्त नाम का सेठ रहता था। नागदत्त ने अपने परिश्रम से अपार धनराशि एकत्रित की थी। एक दिन उसने विचार किया कि धन की सार्थकता तभी हो सकती है, जब कि मेरे पास स्वयं का एक आलीशान महल हो; अत: उसने चतुर कारीगरों को बुलाया और आदेश दे दिया कि एक सात खण्ड का महल बनना चाहिए। यह महल इतना सुन्दर हो कि जिससे इसकी तुलना इस नगरी के अन्य भवनों से न की जा सके और मेरी कीर्ति, यश मूर्तिमान होकर सदा इस संसार में विद्यमान रहे।

कारीगरों ने कई वर्षों में सुन्दर भवन तैयार किया। वह सात मंजिल का महल, नगर में सबसे ऊँचा और मध्य में सुशोभित था। इसे देखने के लिए नगर निवासियों की भीड़ लगी रहती थी। सेठ नागदत्त का यश सारे नगर में व्याप्त था। एक दिन उसने सोचा कि इस महल में चित्रकारी होना भी आवश्यक है; अत: अच्छे-अच्छे कारीगरों को बुलबाकर चित्र बनाने की आज्ञा दी। सैकड़ों अच्छे कलाकार उस विशाल भवन में चित्रकारी करने में

संलग्न हो गये। देश-विदेश के कलाकार यहाँ आकार अपनी कंचुकी की करामात दिखलाने लगे।

एक ओर सेठ नागदत्त अपने भोग-विलास में अपार धनराशि खर्च करते थे तो दूसरी ओर दान-धर्म में नितांत कंजूस। कोई भी भिखमंगा या याचक उनसे एक भी पैसा नहीं पा सकता था; पैसे की जगह वे लोगों को झिड़कियाँ देते रहते थे। देना तो अलग रहा, माँगनेवाले से बातचीत भी नहीं करते। उनके इस व्यवहार को सभी जानते थे; अत: नाना प्रकार की आलोचना-प्रत्यालोचना आती रहती थी। कोई उन्हें कला-प्रेमी, कला-मर्मज्ञ कहता तो कोई कंजूस-मक्खीचूस और मनहूस कहते थे। इतना ही नहीं, कहीं दान न देना पड़े, इस लोभ से वे किसी धर्मसभा में भी नहीं जाते थे।

उनकी धर्मपत्नी यशोमति स्वभाव में अच्छी थी। उसकी इच्छा दान-पुण्य करने की रहती थी। उसने कई बार यह प्रयास किया कि पतिदेव भी दान-पुण्य के कार्यों में कुछ भाग लें, परन्तु उसका श्रम व्यर्थ गया। मित्रों ने भी नागदत्त को समझाने की चेष्टा की परन्तु वह हिमालय की उस चट्टान की भाँति अडिग था, जो धूप और वर्षा में समानरूप से खड़ी रहती है।

एक दिन नागदत्त अपने भवन की चित्रकारी का अवलोकन कर रहा था तथा विदेश से आये हुए चित्रकारों को नाना प्रकार के सुझाव दे रहा था। प्रात:काल का समय था, सूर्योदय हुए बहुत कम समय हुआ था। बाल रवि की सुहावनी किरणें भूखण्ड को स्वर्णमयी बना रही थीं। प्रात: की इस सुन्दर बेला में भित्ति के चित्रों की शोभा कई गुनी दिखलायी पड़ रही थी। जिन चित्रों

में अभी तक रंग नहीं भरा गया था, वे खाली चित्र भी सूर्य की रश्मियों के कारण अपनी चमक-दमक से दर्शकों क मन को मोहित करते थे। सेठ अपने इस वैभव को देख कर प्रसन्न हो रहा था।

❖ ❖ ❖

इसी समय एक मुनिराज उसी मार्ग से निकल और जब से उस सेठ के भवन के पास आये तो सेठ को देखकर मुस्कराये। मुनिराज को मुस्कराना नागदत्त को खटका। वह सोचने लगा कि साधु अकारण नहीं मुस्कराते, कोई बात होनी चाहिए! मुझे देखकर ये मुस्कराये है; अतः अवश्य मेरे सम्बन्ध में कोई बात है! आज मध्याह्न में जाकर मैं मुस्काराने का कारण पूछूँगा। वीतरागी साधु मुस्कराते हुए नहीं चलते। थोड़ी देर तक वह सेठ इस प्रकार ऊहापोह करता रहा परन्तु मुनिराज के पास जाकर इस तथ्य को जान लेने की विचारधारा से उसे सान्त्वना मिली और वह पूर्ववत् कार्य में लग गया।

पूर्वाह्न के पूर्व जब चर्या का समय हुआ, तब मुनि उधर ही नागदत्त सेठ के भवन की ओर चर्या के लिये पधारे। उस समय सेठ अपने पुत्र को गोद में बिठाकर प्यार कर रहे थे। पुत्र ने गोद में पेशाब कर दी, जिससे सारे कपड़े गीले हो गये। मुनिराज इस दृश्य को देखकर भी मुस्कराये।

नागदत्त की पत्नी ने मुनिराज का पड़गाहन किया। मुनिराज भी निर्दोष आहार ग्रहण करके चैत्यालय में चले गये।

नागदत्त को मुनिराज के मुस्कराने से इस बार भी चिन्ता हुई। उसने अपनी पत्नी से कहा कि इस बात का पता लगाना

चाहिए कि मुनिराज मुझे देखकर प्रात:काल भी मुस्कराये और अब भी; इनके मुस्कराने का क्या कारण है? वीतरागी साधु अकारण नहीं मुस्कराते।

❖ ❖ ❖

मध्योह्नोत्तर काल में नागदत्त की दुकान पर एक बकरा भागकर आया और बैं-बैं करना हुआ नागदत्त के चारों ओर चक्कर काटने लगा। जो कसाई उस बकरे को लिये जा रहा था, उसने कहा कि सेठजी! यदि इसकी कीमत तुम दे दो तो बकरे को मैं तुम्हें दे सकता हूँ। यह बकरा तुमसे बहुत प्रेम कर रहा है और दुकान से जाना नहीं चाहता है।

सेठ ने समझा कि कसाई मुझे फँसा रहा है और बकरे की कीमत लेकर यों ही जाना चाहता है। इन लोगों का कोई भरोसा नहीं। इस बकरे को भी देखो, यह मेरे चारों ओर चक्कर लगा रहा है। कसाई इसे पकड़ना चाहता है, परन्तु यह बैं-बैं करना हुआ दुकान से बाहर नहीं निकल रहा, कभी इधर घुस जाता है, कभी उधर; मालूम पड़ता है कि अब डण्डा खाकर ही यहाँ से भागेगा। अत: डण्डा लेकर बकरे को दो-तीन जमा दिये। बकरा बैं-बैं करता हुआ कसाई के साथ चलने लगा।

इसी समय सामायिक क्रिया से निवृत हो मुनिराज भी मन्दिरों के दर्शनार्थ जा रहे थे। संयोगवश वे भी नागदत्त की दुकान के सामने से निकले, जब कसाई बलपूर्वक उस बकरे को पकड़कर ले जाना चाहता था। इस दृश्य को देखकर भी मुनिराज को हँसी आ गयी। उनका यह हँसना नागदत्त को खटका। वह सोचने लगा कि क्या बात है, जो आज मुनिराज मुझे देखकर तीन बार

हँसे हैं ? कोई कारण होना चाहिए ? अत: मैं इनसे हँसने का कारण पूछता हूँ।

नागदत्त, मुनिश्री के पास गया और नमोस्तु करके धर्मलाभ का आशीर्वाद लेकर पूछने लगा – 'प्रभो ! आज आप मुझे देखकर तीन बार क्यों हँसे हैं ? हँसने का क्या रहस्य था ?

मुनिराज बोले – प्रात:काल जब तुम अपनी चित्रशाला में अनेक प्रकार के चित्र देख रहे थे, तब मैं यह सोचकर हँसा था कि इन चित्रों के पूर्ण होने के पहिले तुम इस पर्याय से चले जाओगे। मोही जीव, संसार में कितना आसक्त रहता है कि वह संसार की वास्तविक स्थिति को नहीं समझता है।

प्रभो ! मेरी किनी आयु शेष है ?

हे वत्स ! अब तुम्हारी आयु मात्र सात दिन की है, आज से सातवें दिन तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी। पाँचवें दिन तुम्हारे सिर में अपार वेदना उठेगी, जिसे सहन न कर सकने के कारण तुम्हारे हृदय की गति रुक जाएगी और इस पर्याय को तुम छोड़ दोगे।

प्रभो ! जब आप चर्या के लिए गये थे, तब मुझे देखकर आप क्यों हँसे थे ?

मैं यह देखकर हँसा था कि तुम जिस पुत्र को इतना प्यार कर रहे हो, जिसके पेशाब करने पर तुम्हारे कपड़े पेशाब से भर गये गये थे, फिर भी तुम उसे गोद में लिए दुलार करते

रहे, जबकि यह पुत्र तुम्हारा पूर्व जन्म का शत्रु है और बड़ा होने पर तुम्हारी सम्पत्ति को नष्ट कर देगा, बड़ा व्यसनी और जुआरी होगा।

प्रभो! मध्याह्नोत्तर काल में मन्दिर जी के दर्शनार्थ जाते समय आप क्यों हँसे थे?

हे भाई! कसाई जिस बकरे को बलपूर्वक ले जा रहा था और जो बकरा तुम्हारे चारों ओर चक्कर लगा रहा था; तुम्हारे पास से जाना नहीं चाहता था, वह तुम्हारे पिता का जीव है। जब तुम्हारी दुकान के बाहर से निकला तो उसने तुमको पहचान लिया और इसलिए तुम्हारे चारों ओर चक्कर लगाने लगा था, वह अपने प्राण बचाना चाहता था किन्तु आप उसके भाव को नहीं समझ सके।

❖ ❖ ❖

मुनिराज के वचनों को सुनकर नागदत्त उस कसाई के घर दौड़ा-दौड़ा गया। उसने कसाई से कहा भाई! मूल्य लेकर उस बकरे को मुझे दे दो। कसाई ने कहा – मैंने अभी थोड़ी देर पहिले उसकी हत्या कर दी है, अब वह इस दुनियाँ में नहीं है। कसाई के इन वचनों को सुनकर नागदत्त को बहुत दु:ख हुआ।

❖ ❖ ❖

वह मुनिराज के पास आया और कहने लगा, प्रभो! कल्याण क्या है? उसका क्या उपाय है? सात दिन की तो आयु बहुत है। आत्मकल्याण के लिए तो अन्तर्मुहूर्त ही पर्याप्त है।

मुनिराज ने कहा – हे वत्स! सच्चे आत्मिकसुख की प्राप्ति

ही कल्याण है। अपने आत्मा को जानना-मानना और उसी में जम जाना-रम जाना ही कल्याण का उपाय है। आत्मकल्याण के लिए अभी सर्व अवसर आया है; अत: अब व्यर्थ समय न गँवाते हुए आत्महितार्थ जिनदीक्षा अंगीकार करो।

नागदत्त ने आत्मा का स्वरूप समझकर, मुनिदीक्षा अंगीकार कर घोर तपश्चरण किया। पाँचवे दिन उसके मस्तक में भयंकर वेदना हुई, जिसको शान्तभावपूर्वक सहता गया। सातवें दिन समाधि में स्थित था कि उसके हृदय की गति रुक गयी और इस पर्याय को छोड़कर उसकी आत्मा चल बसी।

समाधि और समता भाव के धारण करने से उसने वैमानिक देवों में जन्म धारण किया।

अहा! मुनिराज की एक क्षण की संगति ने ही उसे कहाँ से कहाँ पहुँचा दिया! सत्संगति दुनियाँ में क्या-क्या नहीं कर सकती!! ● *(सन्मति सन्देश से)*

वस्त्रसहित मुनिपना मानना एकेन्द्रियत्व का कारण

भाई! वस्त्रसहित मुनिपना माननेवाले की त्रसपर्याय की स्थिति पूरी होने को आ गई है। यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्टीकरण करते हैं कि वस्त्र-पात्रसहित मुनिपना माने, भावि नैगमनय से मुनिपना माने, उसकी त्रस की स्थिति पूर्ण होने को आई है। 'दर्शनपाहुड़ गाथा 12' के भावार्थ में कहा है - इस पञ्चम काल में मिथ्यामत के आचार्य बनकर लोक में सम्यग्दृष्टियों से विनय-पूजादिक चाहते हैं, उनके लिए जानना चाहिए कि उनका त्रसराशि का काल पूरा हुआ है और वे एकेन्द्रिय होकर निगोद में निवास करेंगे। *(- अष्टपाहुड़ प्रवचन, पृष्ठ 326)*

8

जैसी करनी...., वैसी भरनी!

सन्ध्या का समय था, आकाश कुछ लोहित सा मालूम पड़ रहा था। वृक्षों और बेलों पर चन्द्रमा की प्रभा छिटक रही थी। भक्त लोग सन्ध्या में लीन थे, स्थान-स्थान पर घण्टियाँ बज रही थीं। मजदूर दिनभर की मजदूरी कर घर वापिस लौट आये थे, कुछ उदास और कुछ प्रसन्न। गाय और भैंसों का दूध दुहा जा रहा था। दूध की देश में कोई कमी नहीं थी।

उस नगर में अनेक मन्दिर थे, उनकी शिखरें गगनचुम्बी थीं जो दूर से ही धर्मपताका की गरिमा को व्यक्त कर रही थीं। नगर के मध्य में एक जैन मन्दिर था जो बहुत ही भव्य बना हुआ था। नगर सेठ ने उसे बनवाया था। उसकी नक्कासी एवं सुन्दरता की चर्चा दूर-दूर तक फैली हुई थी। कभी-कभी राजा भी दर्शनार्थ आया करता था।

उस मन्दिर की देखभाल एक माली का परिवार करता था। उसके एक लड़की थी, जिसका नाम धनश्री था। जो मन्दिर में प्रातः और सायं सफाई किया करती थी। उसके माँ-बाप तो जैनधर्म के बारे में बहुत कुछ जानते थे; परन्तु वह अभी अनजान थी, उसमें उतनी रुचि नहीं थी।

एक बार जब वह मन्दिर में सफाई कर रही थी, तब उसने एक मनुष्य को, जिसके शरीर पर कपड़े नहीं थे, वहाँ बैठे दुए देखा। उसे देखकर वह अनेक प्रकार से सोचने लगी कि यह कैसा आदमी है ? जाने कहाँ से आय गया है, उठता भी तो नहीं है, बड़ा ढीट है। मैं कूड़ा झाड़कर सफाई कर रही हूँ और यह उठने तक का नाम नहीं ले रहा। उसने जोर से झाड़ना प्रारम्भ किया, लेकिन उस पर भी कोई प्रभाव नहीं। आखिरकार वह झल्ला उठी और चिढ़कर बोली - न तो तू देखता है और न सुनता है कि इतना कहने पर अलग उठकर चला जाए! अच्छा, ऐसे नहीं जायेगा और न हटेगा, अभी इसका मजा चखाती हूँ। उसने सारा कूड़ा-करकट उस मनुष्य के चारों ओर इकट्ठा कर दिया। इतने पर भी उसे सन्तोष नहीं मिला। एक कोठरी में पड़े-कूड़े को भी ऊपर डाल दिया और कुछ देर खड़ी देखती रही। जब देखा कि इस पर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ा, तब वह अनेक प्रकार से बड़बड़ाने लगी।

यह मनुष्य और कोई नहीं था, वे एक दिगम्बर मुनिराज थे जो ध्यान कर रहे थे। उन्होंने उसे उपसर्ग समझा और वे अधिक ध्यानस्थ हो गये।

प्रात:काल भक्तजनों का मन्दिर में आना प्रारम्भ हुआ। नगरसेठ भी दर्शन करने आये। उनकी दृष्टि अचानक उस ओर गयी, जहाँ उन्होंने बहुत धीरे से कूड़े को हिलते देखा, वे चौंके। उनको खड़ा देखकर अन्य स्त्री-पुरुष भी धीरे-धीरे वहाँ इकट्ठे होने लगे। लोगों की समझ में आया कि इसमें तो ध्यानस्थ मुनिराज है, जिनकी नाक की सांस से कूड़ा हिल रहा है। उन

लोगों ने कूड़ा-करकट हटाया और मुनिराज की जय बोलने लगे। इसी बीच धनश्री आ गयी। उसने देखा कि सभी लोग उस आदमी के चरण छू रहे हैं, जय-जयकार बोल रहे हैं और वह आदमी भी प्रसन्न, शान्तचित्त दिखायी दे रहा है, क्रोध का नाममात्र भी उसके चेहरे पर नहीं है। वह दुविधा में पड़ गयी। अपने मन में बारम्बार अपनी भूल पर पश्चाताप करने लगी।

सहसा वह मुनिराज के चरणों में गिर पड़ी और अबोध बालिका की तरह रोने लगी। रोते-रोते कहने लगी - हे प्रभो! यह पाप मैंने ही किया है, मुझे क्षमा कर दो; मैंने बहुत बुरा किया है। मैंने मुनिराज की बड़ी निन्दा की है, उनाका अपमान किया है। लोगों के समझाने बुझाने पर भी उसका रोना बन्द नहीं हो रहा था।

मुनिराज बोले - पुत्री! मैंने तो तुमसे कुछ नहीं कहा। तुम-सा भव्य और कौन हो सकता है, जिसने अपने अपराध को स्वीकार कर लिया है। तुमने अपने पावन आँसुओं से अपने को पवित्र कर लिया है, अपने मन को धो डाला है। तुम धन्य हो!

मुनिश्री की मधुर वाणी सुनकर उसे धैर्य बँधा। उसने हृदय से मुनिराज की सेवा-शुश्रूषा की, वैयावृत्ति की। उसकी भक्ति देखकर अनेक स्त्री-पुरुष भी मुनिराज की भक्ति में लीन हो गये और उस धनश्री का घर-घर में उदाहरण देने लगे।

❖ ❖ ❖

मरकर वह धनश्री, नगर सेठ के यहाँ पुत्री के रूप में आई। वह बड़ी रूपवान्, और सुगन्धित शरीरवाली थी। जब वह रूप-यौवन से सम्पन्न हो गयी, तब उसकी चर्चा दूर-दूर तक फैल

गयी। उसके साथ विवाह करने के लिए सेठ-महासेठ ही नहीं राजे-महाराजे भी लालायित होने लगे। उसका नाम वृषभसेना रक्खा गया था।

उस समय उस प्रदेश का राजा उग्रसेन था। उसके कानों में भी उसके रूप एवं सच्चरित्रता की महिमा पहुँची। उसने राजदूत को भेजकर सेठजी को राजदरबार में बुलवा लिया। सेठजी अनेक संकल्प-विकल्पों के साथ दरबार में पहुँचे और राजा उग्रसेन का अभिवादन किया। राजा ने सेठ को पास बिठाया और अपने मन की बात सेठजी से कह डाली। सुनकर सेठ जी प्रसन्न भी हुए और दुविधा में भी पड़े परन्तु मुख पर दुविधा के भावों को नहीं आने दिया और विनम्रता से बोले – राजन्! मैं आपके बराबर कहाँ हूँ। फिर भी मैं आपकी इच्छा का आदर करता हूँ, लेकिन विवाहोत्सव के समय जो पशु-पक्षी पिंजरों में बन्द हैं तथा जो कैदी कारागर में बन्द हैं, उन सबको छोड़ देना पड़ेगा और जब-जब अष्टाह्निकापर्व आयेगा, तब-तब भगवान की पूजन भी साज-बाज के साथ करना पड़ेगा।

राजा ने सेठ की सारी बातें मान लीं। तद्नुसार बन्दीगृह से सभी को मुक्त कर दिया, पशु-पक्षी पिंजरों से छोड़ दिये गये। राजा ने वृषभसेना को अपनी पट्टरानी घोषित कर दिया। सुखपूर्वक समय व्यतीत होने लगा। पुण्योदय से राजा उग्रसेन का लोहा सभी राजा मानने लगे।

❖ ❖ ❖

राजा उग्रसेन के यहाँ अनेक छोटे राजाओं के यहाँ से समय-समय पर उपहार आने लगे। पुण्य का प्रताप इतना अधिक था

कि उनका सबसे बड़ा शत्रु मेघपिंगल, उनका मित्र बन गया।

एक बार उपहार में दो बहुत बढ़िया दुशाले राजा के यहाँ आए। उस समय राज मेघपिंगल भी उनके पास बैठा था, उसका मन दुशालों पर ललचा आया। राजा उग्रसेन उसकी भावना समझ गये और उसको उसमें से एक दुशाला, जो दूसरे रंग था, दे दिया। मेघपिंगल ने भी मनचाही वस्तु सहर्ष स्वीकार की।

एक बार राजा मेघपिंगल की रानी, वृषभसेना से मिलने राजमहल में आई। वृषभसेना ने उसका बहुत आदर-सत्कार किया। एक-दूसरे ने एक-दूसरे से मिलकर अत्यधिक प्रसन्नता व्यक्त की। बड़े आमोद-प्रमोद से समय बीतते देर नहीं लगी लेकिन राजा पिंगल की रानी जाने लगीं, उस समय भूल से वृषभसेना का दुशाला ओढ़ कर चली गयी। वृषभसेना भी कुछ न देख सकी।

किसी कार्यवश राजा पिंगल, राजा उग्रसेन से मिलने राजदरबार में आए। राजा उग्रसेन ने उनका व्यवहार के नाते सम्मान किया परन्तु वे मन ही मन शंका करने लगे कि ये जो दुशाला ओढ़कर आए हैं, वह तो मेरी रानी वृषभसेना का है, इसके पास यह कैसे पहुँचा? कोई न कोई बात अवश्य है, कुछ न कुछ, दाल में काला है? शंका पर शंका उसके मन को कचौटे जा रही थी। बातचीत में जो सरसता पहले आया करती थी, वह अब नाममात्र को भी नहीं थी।

राजा मेघपिंगल को राजा के मन की शंका समझते देर नहीं लगी। राजा का व्यवहार उसे खलने लगा। बात अधिक न बढ़े, इसलिए वह वहाँ से बिना कुछ कहे-सुने उठकर चला गया।

इधर राजा उग्रसेन के क्रोध का ठिकाना नहीं था। क्रोध ने उन्हें किंकर्त्तव्य विमूढ़ बना दिया था, उनका विवेक समाप्त कर दिया था। वे भूल गए थे कि अचानक कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए। दौड़े-दौड़े रानी वृषभसेना के महल में गये, वहाँ उन्होंने राजा मेघपिंगल का दुशाला रखा देखा, उसका सन्देह विश्वास में बदल गया।

सन्देह की भी महिमा अपरम्पार होती है, कि जो वस्तु थोड़ी देर पहले प्राणों से भी अधिक प्यारी थी, वही अब बहुत बुरी लग रही थी। उसको नष्ट करने के लिए न जाने क्या-क्या विचार राजा के मन में आए। अब वह एक पल भी वृषभसेना को देखना नहीं चाहता था। दाँत किटकिटाता हुआ, भौंहे ऊपर चढ़ाता हुआ, लाल-पीला होता हुआ वह राजा उग्रसेन, रानी वृषभसेना के महल से लौट पड़ा। वृषभसेना भी कुछ न समझ सकी और न कुछ सोच सकी परन्तु राजा की बेरुखी पर उसे क्षणभर को कुछ शंका हुई, लेकिन वह शंका क्षणमात्र रहकर ही विदा हो गयी।

राजा ने अपने विश्वस्त कर्मचारियों को बुलाया और उन्हें आदेश दिया कि तुम रानी वृषभसेना को तीर्थयात्रा के बहाने किसी निर्जन जंगल में छोड़ आओ।

राजा के आदेशानुसार रानी वृषभसेना को निर्जन जंगल में छोड़ दिया गया। वह अपनी कर्म-लीला पर बारम्बार सोचने लगी। ये कर्म कैसे विचित्र हैं? मनुष्य को कहीं पर भी नहीं छोड़ते! भगवान पार्श्वनाथ पर कमठ ने उपसर्ग किया। सुकुमाल मुनि को स्यालनी ने सताया। सती सीता को भी दुबारा वनवास

हुआ। मैं अपने बारे में सोच ही नहीं पा रही हूँ कि मुझे जंगल में क्यों छोड़ा गया है? उसके मन में दुःख तो हुआ परन्तु वह धर्मात्मा थी, शीलवती थी, पाप-पुण्य जानती थी। कर्म किस-किस प्रकार अनुकूल-प्रतिकूल बाह्य सामग्री जुटाते हैं? जन्म-जन्मान्तर तक भी नहीं छोड़ते; जो जैसी करनी करता है, उसे वैसी भोगनी पड़ती है। इस प्रकार उसे पूर्ण विश्वास था और इसी विश्वास ने उसे बल दिया, धैर्य दिया।

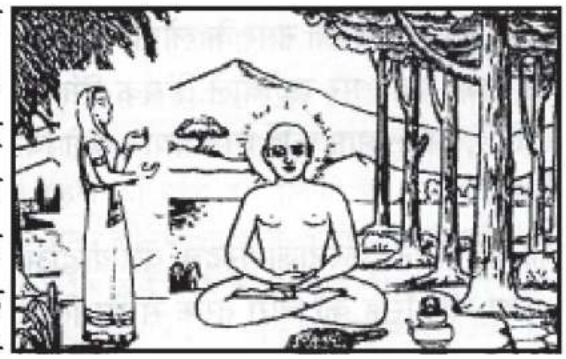

पुण्य के उदय से उसे महातपस्वी, अवधिज्ञानी, मुनिवर गुणधर के दर्शन हुए। उनके दर्शन कर उसने बड़ी भक्ति से उनकी वन्दना की और अपने को कृतकृत्य समझा। तदनन्तर वृषभसेना ने मुनिराज से पूछा कि हे मुनिराज! मेरे पूर्वभव के कर्मों को बताइये, जिनके कारण मैंने इस प्रकार फल पाया है?

मुनिराज अवधिज्ञानी तो थे ही, उन्होंने उसे बताया - पुत्री! तूने पूर्व भव में एक मुनि की सेवा-शुश्रुषा की थी, उनको औषधि देकर निरोग किया था, इस कारण तूने इस जन्म में एक सेठ के यहाँ जन्म लिया और सुगन्धित शरीर पाया तथा रानी बनी, किन्तु तूने उन्हीं मुनि की निन्दा भी की थी, इस कारण तुझे झूठा कलंक लगा है; इसी कारण तेरे पति के मन में शंका हुई और तुझे इस निर्जन जंगल में छोड़ दिया गया है।

वस्तुतः जीव जो कुछ शुभाशुभभाव करता है, तदनुसार पुण्य-पापकर्म एवं संयोग प्राप्त होते हैं। यदि इस संसार की चक्रीयता से बचना है तो मिथ्यात्व और रागादि का अभाव करो! निज शुद्धात्मा की दृष्टि एवं अनुभूति करो - यही सच्चे सुख का एकमात्र उपाय है।

मुनिराज के श्रीमुख से अपने पूर्व जन्म की कथा सुनकर उसके मन में दीक्षा लेने के भाव जागृत हो गए। उसने आर्यिका दीक्षा ले ली। घोर तपस्या करके समाधिमरणपूर्वक शरीर का त्याग कर स्वर्ग में देव हुई। ● *(सन्मति सन्देश से)*

वस्त्र-पात्र की ममता छूटने पर ही मुनिपना

मुनि, बालक की तरह यथाजात अर्थात् नग्न दिगम्बर होते हैं। जो थोड़ा भी परिग्रह रखता है, उसको भगवान के सूत्र की श्रद्धा नहीं है। सर्वज्ञ का फरमान है कि मुनि को एक भी वस्त्र नहीं रखना चाहिए। वस्त्र-पात्र की ममता छूटने पर ही मुनिपना होता है। जो एक लंगोटी रखकर भी साधुपद मनवाता है, उसको सर्वज्ञ भगवान के आगम की श्रद्धा नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यात्व का फल निगोद है। वर्तमान में शुभभाव होवे तो भले ही स्वर्ग में जाए; परन्तु फिर परम्परा एकेन्द्रिय होकर संसार ही में भ्रमण करेगा, क्योंकि वह सर्वज्ञ के आगम का आदेश नहीं मानता है। कदाचित ब्रह्मचर्य पालन से, दया पालन से पुण्य बँधे और उससे स्वर्ग में देव अथवा राजा आदि हो जाए, तथापि परम्परा से निगोद में चला जाएगा। उसके संसार का परिभ्रमण नहीं मिटेगा।

(- अष्टपाहुड़ प्रवचन, पृष्ठ 321)

9

जम्बू से जम्बूस्वामी

तीर्थङ्कर भगवान महावीरस्वामी की धर्मसभा (समवसरण) में देवों के कोठे में बैठे ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के विद्युन्माली देव को देखकर, पूर्व संस्कारवश राजा श्रेणिक के हृदय में सहज स्नेह उमड़ा और उन्हें ऐसा लगा कि यह कोई महान निकट भव्यात्मा है। इस कारण उन्हें यह जानने की जिज्ञासा हुई कि – 'यह विद्युन्माली देव ब्रह्मोत्तर स्वर्ग से चयकर अगले जन्म में किस पुण्यवान नारी की कूँख और गोद को पावन करेगा?' राजा श्रेणिक ने ऐसा प्रश्न गौतमस्वामी से पूछा।

भगवान महावीरस्वामी के प्रमुख गणधर गौतमस्वामी ने राजा श्रेणिक द्वारा पूछे जाने पर उनकी जिज्ञासा को शान्त करते हुए कहा – 'राजगृहनगर में धन-सम्पदा से सम्पन्न यथा नाम तथा गुण सम्पन्न जिनेन्द्र-भक्त सेठ अर्हद्दास हैं। उनकी पत्नी जिनमती को इस भव्यात्मा को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

यह विद्युन्माली और कोई नहीं, अन्तिम अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी का ही जीव है और यह विद्युन्माली देव अपने पिछले तीन भवों से स्वसंवेदनज्ञान से ज्ञानामृत पान तो कर ही रहा है। भवदेव और शिवकुमार की मनुष्यपर्यायों में इसने मुनि

होकर स्वरूपाचरणचारित्र की साधना करके अतीन्द्रिय आनन्द का भी भरपूर लाभ लिया है और अभी इस देव की पर्याय में भी इसे सम्यग्दर्शन रूप रत्न की उपलब्धि होने से अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त है।

यह अगले भव में ही राजगृही में सेठ अर्हद्दास के घर में जम्बूकुमार के रूप में जन्मेगा और उसी भव में अपनी आत्मसाधना पूर्ण कर केवलज्ञानी होकर, जगत को धर्म का मार्ग प्रशस्त कर मुक्तिवधु का वरण करेगा।'

जिस समय गौतमस्वामी इस निकट भव्यात्मा जम्बूकुमार के पूर्व भवों एवं बालक जम्बू के जन्म पर प्रकाश डाल रहे थे, उसी समय वहाँ एक यक्ष बैठा था। वह जम्बूस्वामी के बारे में हो रही महिमा मण्डित चर्चा सुनकर आनन्द विभोर होकर नृत्य करने लगा और गौतमस्वामी से बोला – 'आपके प्रसाद से जम्बूकुमार के केवली होने की बात सुनकर मैं कृतार्थ हो गया हूँ। वे माता-पिता धन्य हैं, जिनके घर में जम्बूकुमार जैसे पुत्र का जन्म होगा, जिसके आँगन में शिशु जम्बू की किलकारियाँ गूँजेंगी। वह नगर एवं नगरवासी धन्य होंगे, जहाँ जम्बूकुमार का किशोर जीवन बीतेगा। वे नारियाँ धन्य होंगी, जिनका विवाह युवक जम्बूकुमार से होगा और वे प्राणी धन्य होंगे, जो जम्बूस्वामी की दिव्यदेशना सुनकर अपना जीवन सफल करेंगे।'

इस प्रकार उस यक्ष को अपने स्थान पर खड़े होकर खूब उत्साह के साथ नृत्य करता देखकर राजा श्रेणिक एवं अन्य दर्शकों को यह जानने की जिज्ञासा हुई कि – यक्ष को इस प्रकार से उत्साहित होने का क्या कारण है? राजा श्रेणिक ने गौतम

स्वामी से प्रश्न किया कि – 'हे स्वामी! यह यक्ष कौन है? और इस यक्ष का इस प्रकार उत्साहित होकर नृत्य करने का रहस्य क्या है?'

गौतमस्वामी ने अपने अवधिज्ञान से जानकर यह बताया कि – 'इसी नगर में एक धनदत्त सेठ थे। उसकी पत्नी का नाम था गोत्रमती। उनके दो पुत्र हुए। बड़े पुत्र का नाम रखा अर्हद्दास और छोटे पुत्र का नाम रखा जिनदास।

अर्हद्दास तो यथानाम तथा गुण सम्पन्न है। वह अरहन्त भगवान का सच्चा भक्त है और स्वभाव से गम्भीर है परन्तु छोटा भाई का नाम तो जिनदास था, पर जिनेन्द्र के दास होने जैसे उसमें एक भी लक्षण नहीं थे, बल्कि इसके विपरीत वह स्वभाव से बहुत उदण्ड था। दुर्भाग्य से धर्म से विमुख तो था ही, सातों व्यसनों का सेवन भी करने लगा था।'

देखो, परिणामों की विचित्रता! एक ही कूँख से जन्में दोनों भाइयों की परिणति कैसी भिन्न-भिन्न थी। बड़ा भाई ऐसा धार्मिक, ऐसा गम्भीर और छोटा ऐसा दुर्व्यसनी कि सारे नगर में उसकी बदनामी हुई, फिर भी उसने बदनामी की परवाह न करके जुआ खेला और उसमें सारी सम्पत्ति हार गया तब भी उसका मन नहीं माना और जीतने की आशा से उधार ले-ले कर जुआ खेलने से कर्जदार भी हो गया।

जब साथी जुआरियों द्वारा कर्जा वसूली का दबाव बढ़ा तो एक दिन वह इतना घबराया, इतना चिन्तित हुआ कि मूर्च्छित हो गया। संयोग से उसी समय अचानक उसका बड़ा भाई अर्हद्दास वहाँ जा पहुँचा। छोटे भाई को मूर्च्छित देख उसे उठाकर घर ले

आया। वैद्यों से उपचार कराया। मूर्च्छा टूटने पर अर्हद्दास ने उसे जिनेन्द्रवाणी से बोधप्रद शब्दों से समझाया और कहा – 'हे भाई! तूने जुआ व्यसन के कारण अपना सारा धन और यश – सब कुछ तो खो ही दिया, अन्य दुर्व्यसनों में भी फँस गया।

जब जुए में हारा तो गम को भुलाने के लिए शराब पीना प्रारम्भ कर दिया। शराब से हुई कामोत्तेजना के कारण वेश्यागामी हो गया, वेश्याओं के चपेट में आकर उन्हें धन से सन्तुष्ट रखने के लिए चोरी करने लगा। इस तरह एक ही दुर्व्यसन से, तू सभी दुर्व्यसनों में फँसता चला गया।

यह दुर्दशा अकेले तेरी नहीं हुई। जो भी किसी एक दुर्व्यसन में फँसता है; उसे अन्य सभी दुर्व्यसन स्वत: घेर लेते हैं। तुझे तो अब यह अनुभव स्वत: हो गया है; अत: इन्हें छोड़!

देखो, जो दूसरों की दुर्दशा देखकर उससे सबक सीख लेते हैं, उसे नीतिकार उत्तम पुरुषों की श्रेणी में रखते हैं तथा एक बार ठोकर खाकर भुक्तभोगी होकर भी अन्त में सन्मार्ग में आ जाते हैं, उन्हें मध्यम कोटि की श्रेणी में रखा जाता है; किन्तु जो बार-बार ठोकर खाकर भी सुधर जाते हैं, उन्हें अधम पुरुषों की श्रेणी में गिना जाता है और जो बार-बार ठोकरें खाकर भी नहीं सुधरते, उन्हें अधमाधम श्रेणी में रखा जाता है।

तुम प्रथम व द्वितीय श्रेणी में तो उत्तीर्ण नहीं हो पाये, अब यह अवसर खोने जैसा नहीं है, क्योंकि अब पुन: यह अवसर प्राप्त नहीं होगा।

हे अनुज! तुझे ज्ञात है कि मनुष्य जीवन पाना कितना कठिन

है, कितना दुर्लभ है, फिर भी तू सन्मार्ग से भटक गया है। अस्तु – अब तक जो कुछ हुआ सो हुआ; अब भी चेत जा और शेष मानव जीवन सार्थक कर ले।'

अग्रज के उद्‌बोधन से और स्वयं की भली होनहार से जिनदास को अपने किये दुष्कर्मों का पश्चाताप हुआ और अपने अग्रज से बोला – 'हे भाई! आप मेरे उपकारक हो, आपने मुझ जैसे अधम को सद्‌बोध देकर, संसार सागर में डूबने से बचा लिया है। आप मेरे अग्रज तो हैं ही, अब मैं आपको अपना गुरु भी मानता हूँ।

अब मैं अपने समस्त दुर्व्यसनों का त्याग कर एवं जिनधर्म की शरण में रहकर अपने जिनदास नाम को सार्थक करूँगा। सच्चा जिनेन्द्र भक्त बनकर जिन-आज्ञा का पालन करूँगा।'

तभी से जिनदास ने जिनेन्द्रदेव की आराधना और जिनवाणी का स्वाध्याय करके, ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय एवं आत्मानुभूति करके अपने अग्रज से ही श्रावक के व्रत लेकर उनका निरतिचार पालन करते हुए समाधिमरण पूर्वक देह छोड़ी और वही जिनदास इस यक्ष की पर्याय में आ गया है।

जब इसने यह सुना कि यह विद्युन्माली इन्द्र स्वर्ग से चयकर मेरे पूर्व पर्याय के अग्रज अर्हद्‌दास के घर में मेरी पूज्य भाभी जिनमती की कूँख से शिशु जम्बू के रूप में जन्म लेकर पूरे परिवार को धन्य करेगा तो इसका मन मयूर हर्ष से नृत्य करने लगा है।

यह प्रश्न राजा श्रेणिक ने गणधर गौतम स्वामी से पूछा था और गणधर देव ने उन्हें उत्तर दिया था इस बात का पता अन्य किसी को नहीं था।

धर्मनिष्ठ सेठ अर्हद्दास एवं सेठानी जिनमती परस्पर स्नेह भाव से न्यायपूर्वक गृहस्थोचित धर्म-साधना करते हुए सुखपूर्वक रह रहे थे। उन्हें भी यह पता नहीं था कि हमारे आँगन में जम्बूकुमार के रूप में सूर्य के समान तेजस्वी पुत्ररत्न का जन्म होनेवाला है।

जिनमती को शिशु के गर्भ में आने के लक्षणों से ऐसा अवश्य लगा कि मेरे गर्भ में कोई पुण्यवान जीव आ गया है, एक दिन जब उसने रात्रि के पिछले प्रहर में पाँच शुभ स्वप्न देखे तो जिज्ञासा हुई कि ऐसे अपूर्व स्वप्न क्यों आये?

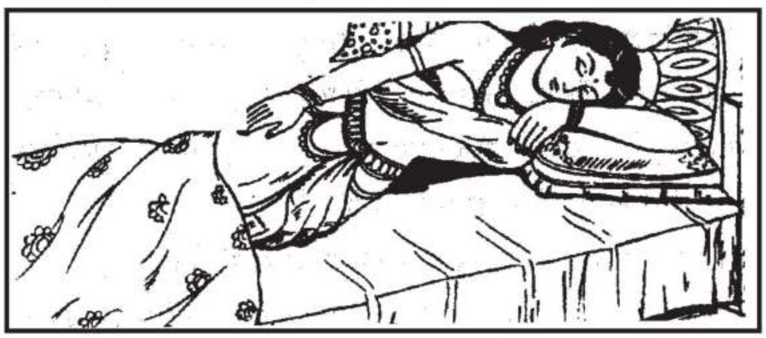

स्वप्न पूर्ण होते ही जिनमती जाग गई। वह मन ही मन शुभ स्वप्नों का कारणा खोजने लगी – 'क्या कोई दिव्य पुरुष मेरे गर्भ में आया है? प्रातः होते ही सेठानी ने सेठजी को अपने देखे स्वप्नों का वृत्तान्त सुनाकर उनके फल जानने की जिज्ञासा प्रगट की।

स्वप्नों को सुनते ही सेठजी का मन-मयूर हर्षित होकर नाच उठा। वे सेठानी सहित जिनमन्दिर गये, जिनेन्द्रदेव के भक्तिभाव से दर्शन-पूजन करके वहाँ विराजित मुनिसंघ के दर्शन कर बैठ गये। ज्यों ही मुनिराज ध्यान करके निर्वृत्त हुए कि

उन्होंने सेठानी द्वारा देखे स्वप्नों का फल जानने की प्रार्थना की।

मुनिसंघ के आचार्यश्री ने अवधिज्ञान से स्वप्नों का फल जानकर कहा – 'पहला स्वप्न **जम्बू वृक्ष** का देखना इस बात का सूचक है कि तुम्हारे कामदेव जैसा सुन्दर तद्भव मोक्षमार्गी पुत्र होगा। दूसरा स्वप्न – **धूम रहित अग्नि का देखना** इस बात का सूचक है कि वह कर्मफल ईंधन को जलानेवाला होगा। तीसरा स्वप्न – **धान्ययुक्त खेत** लक्ष्मीवान होने का सूचक है। चौथा स्वप्न – **कमलसहित सरोवर** यह सूचित करता है कि वह पुत्र भव्य जीवों के हृदय कमल खिलानेवाला होगा तथा पाँचवाँ स्वप्न – **चंचल समुद्र** इस बात का सूचक है कि वह इसी भव में संसार समुद्र से पार होकर मुक्तिरूपी कन्या को वरेगा।'

जब विद्युन्माली देव का जीव, जिनमती के गर्भ में आया तो जिनमती को ऐसे दोहले (भाव) हुए कि 'मैं देव-शास्त्र-गुरु की भक्तिभाव से पूजन करूँ, जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा कराऊँ, चार संघों को चार प्रकार का दान दूँ, तीर्थक्षेत्रों की यात्रा करूँ आदि।'

माता जिनमती इच्छानुसार यथासंभव सभी कार्य करने भी लगी। उसे निज शुद्ध चैतन्यस्वभाव के चिन्तन-मनन एवं रमण करने की भावना बलवती होने लगी।

माता-पिता के मन में चरमशरीरी अन्तिम केवली होनेवाले अपने पुत्र को देखने की तीव्र भावना जागृत होने लगी। पुत्र के आगमन की सुखद प्रतीक्षा में नौ माह कब बीत गये, उन्हें इसका अनुभव ही नहीं हुआ।

❖ ❖ ❖

फाल्गुन माह के शुक्ल पक्ष में पूर्णिमा के शुभ दिन पूर्णचन्द की भाँति कान्तिमान पुत्र का जन्म हुआ। पुत्र के आगमन से सेठ अर्हद्दास एवं सेठानी को अपार आनन्द का अनुभव हो रहा था। उन्होंने तो बड़े धूम-धाम से समस्त धार्मिक गतिविधियों के साथ पुत्र का अनुपम जन्मोत्सव मनाया ही, स्वर्ग में देवों ने भी दैवी पुष्पों एवं रत्नों की वर्षा की एवं दिव्यवादित्र बजाकर जन्मोत्सव को मनाया।

पुत्र का व्यक्तित्व कितना भी बड़ा क्यों न हो, पर माता-पिता का तो आखिर प्रिय पुत्र ही है न! अतः माता-पिता ने बालक का नाम भले जम्बूकुमार रखा परन्तु लाड़-प्यार से वे बालक को **जम्बू** नाम से ही सम्बोधित किया करते। वृद्धिंगत शिशु की मुख की कान्ति चन्द्रकला के समान निरन्तर बढ़ रही थी। मन्द-मन्द मुस्कान युक्त शिशु का मुख ऐसा लगता मानो खिला हुआ कमल पुष्प ही है।

सर्वत्र आनन्ददायक जय-जय की ध्वनियाँ होने लगीं। आनन्द विभोर हो नगर की नारियाँ मङ्गल गीत गा-गाकर हर्ष से नृत्य करने लगीं। सेठजी ने पात्रों को मनचाहा दान दिया। इस प्रकार बालक जम्बू का लालन-पालन खूब लाड़-प्यार से हुआ।

जब बालक किशोरावस्था में आया तो उसे सर्व विद्याएँ स्वयं ही पूर्व-जन्म के संस्कार से स्मरण हो आईं। वह गुरुमुख से पढ़े बिना ही सर्व विद्याओं एवं कलाओं में पारङ्गत हो गया तथा बृहस्पति के समान सर्व शास्त्रों का ज्ञाता हो गया। वह चरम शरीरी तो था ही, जैसे-जैसे उसका शरीर वृद्धिङ्गत होता, वैसे-वैसे अन्य गुण भी वृद्धि को प्राप्त होते जाते।

जम्बूकुमार अतुल्य बलवान और असाधारण प्रज्ञावान तो बचपन से ही थे, अन्य सभी क्रिया कलापों में भी वे कुशल थे। चित्रकला, लेखन कला, छन्द-अलङ्कार आदि काव्यकला, गीत-वादित्र, वीणावादन आदि भी स्वयं ही करते तथा करतल ध्वनि के द्वारा मित्रों के उत्साह में वृद्धि किया करते।

इस तरह जब कुमार अठारह वर्ष के युवा हो गये तो भगवान की भक्ति, पूजा, ध्यान और तत्त्वचर्चा भी करने लगे। जिस धर्मवृक्ष की शीतल छाया में तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण आदि पदों की प्राप्ति हाती है, उसी धर्मवृक्ष की शीतल छाया में रहने का परम सौभाग्य हमें अन्तिम केवली की छत्रछाया में प्राप्त हुआ है - ऐसा सब अनुभव कर रहे थे।

जम्बूकुमार की सद्गुण सम्पत्ति, अतिशय रूप लावण्य, वज्रवत सुगठित सबल देह देखकर अनेकों श्रीमन्तों के मन उन्हें अपनी कन्या देने को लालायित थे। जिनमें सेठ सागरदत्त की कन्या पद्मश्री, धनदत्त की कन्या कनकश्री, वैश्रवण सेठ की कन्या विनयश्री और वणिकदत्त की कन्या रूपश्री के तो प्रस्ताव ही आ गये।

चारों ही श्रेष्ठियों ने जब यह शुभ समाचार अपनी पत्नियों एवं पुत्रियों को सुनाये तो चारों ही पुत्रियों ने सलज्ज भाव से पैर के अँगूठों से जमीन खोदते हुए मन ही मन हर्षित होकर मौनरूप से सिर हिला कर अपनी-अपनी स्वीकृतियाँ दे दीं।

पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री एवं रूपश्री - चारों ही कन्याओं की मौन स्वीकृति प्राप्त कर सेठ सागरदत्त, धनदत्त, वैश्रवण एवं

वणिकदत्त – चारों ही सेठों ने अर्हद्दास श्रेष्ठी के घर जाकर विनम्र प्रार्थना की कि – 'हम अपनी कन्याओं का विवाह आपके पुत्र जम्बूकुमार से करने की स्वीकृति लेने आये हैं। आप हमारी प्रार्थना स्वीकार कर हमें कृतार्थ कीजिए।'

सेठ अर्हद्दास चारों ही श्रेष्ठियों की बात सुनकर अति प्रसन्न हुए और अपनी पत्नी जिनमती से परामर्श किया। जिनमती उन श्रेष्ठियों एवं कन्याओं से सुपरिचित थी, अत: उसने सहर्ष सहमति दे दी।

माता-पिता को पुत्र के विवाह की इच्छा और प्रतीक्षा तो स्वाभाविक ही होती है, फिर योग्य और सर्वाङ्ग सुन्दर कन्याओं के मिल जाने पर तो उनके हर्ष का ठिकाना ही नहीं रहता।

चारों ही श्रेष्ठी अर्हद्दास से स्वीकृति पाकर अपने-अपने घर गये और पत्नियों एवं पुत्रियों को सुखद समाचार सुनाया तो उन्हें भी हार्दिक प्रसन्नता हुई। इस तरह दोनों पक्षों की ओर से शादी की बात पक्की हो गई।

बसन्त ऋतु का आगमन हुआ, कोयलें ऋतुराज के स्वागत में कूज रहीं थीं। शीतल मन्द सुगन्ध बयार बहने लगी। ऐसी बसन्त ऋतु में जम्बूकुमार मित्रों के साथ वनक्रीड़ा को गये थे। उसी समय नगरवासी भी सपत्नीक वन-उपवनों में क्रीड़ा हेतु पहुँचे थे। सरोवर में स्नान करके लोग हाथी, घोड़ों पर बैठकर अपने-अपने डेरों की ओर परस्पर बातचीत करते हुए लौट रहे थे। चारों ओर बाजों की गम्भीर ध्वनियाँ हो रही थीं। इस तरह के कोलाहाल से राजा श्रेणिक का हाथी भड़क गया और सांकल

तोड़कर वन में स्वच्छन्द हो यत्र-तत्र घूमता हुआ उपद्रव करने लगा। सम्पूर्ण वन-उपवनों को छिन्न-भिन्न कर दिया।

सभी नगरवासी जो वनविहार से लौट रहे थे, वे उसकी भयङ्कर चिंघाड़ सुन भयभीत हो गये, भगदड़ मच गई। नागरिकों को भयभीत देख बलवान जम्बूकुमार ने उसकी पूँछ ऐसी मजबूती से पकड़ ली, जिससे वह हाथी तो क्या, कोई भी शक्तिशाली उसे नहीं हिला सकता था। उस हाथी ने बहुत प्रयत्न किये, अन्ततः जम्बूकुमार को अजेय जानकर शान्त हो गया।

अन्य साधारण जन तो जम्बूकुमार की अचिन्त्य शक्ति से प्रभावित हुए ही, नीति-निपुण राजा श्रेणिक भी आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने जम्बूकुमार को अपने पास बुलाकर अपने साथ ही सिंहासन पर बिठाया, प्रेम से मस्तक पर हाथ फेरते हुए जम्बूकुमार की प्रशंसा करने लगे। प्रमुदित होकर बहुमूल्य रत्न आदि से सम्मान किया।

जिस हाथी को जम्बूकुमार ने वश में किया था, उसी हाथी के मस्तक पर कुमार को बैठाया गया और दुन्दुभि बाजों की ध्वनि के साथ व सैकड़ों राजाओं के साथ जम्बूकुमार का नगर में प्रवेश कराया गया।

माता-पिता भी बड़े आदर के साथ पुत्र को घर लाए और उससे पूछा - 'हे

बेटा! तूने मेरुपर्वत समान हस्ती को कैसे वश में किया? तुझे कहीं चोट तो नहीं आई?'

जम्बूकुमार बोले – 'नहीं माता नहीं! मुझे कुछ नहीं हुआ, मैं पूर्ण सकुशल हूँ।'

जम्बूकुमार जैसे बलवान एवं धैर्यवान मित्र को पाकर उनकी मित्र मण्डली भी आनन्दित हो जम्बू के पुण्य-प्रताप की सराहना करने लगी। हाथी को वश में करने के अतिरिक्त विद्याधर रत्नचूल जैसे अजेय बलवान विद्याधर को जीतने जैसी अनेक घटनाएँ घटीं, जो उनके बल, पराक्रम और साहस के प्रदर्शन के लिए पर्याप्त थीं।

❖ ❖ ❖

जो कम्मे सूराः ते धम्मे सुराः की नीति के अनुसार जम्बूकुमार ने किशोरवय में हाथी को तो वश में किया ही; धर्म के क्षेत्र में त्रिभुवन को अपने वश में करनेवाले काम एवं महामोहमल्ल को भी पराजित करने के लिए कमर कस ली थी।

लौकिक युद्ध में भी यद्यपि अकेले जम्बूकुमार ने रत्नचूल जैसे पराक्रमी स-सेन्य विद्याधर को चुटकियों में धराशायी कर दिया, तथापि उन्हें उसका किञ्चित् भी गर्व नहीं हुआ क्योंकि वे यह जानते थे कि चरमशरीरी, वज्रवृषभनाराचसंहनन के देहधारी मुझको ये कीट-पतंगों जैसे आकाश में उड़नेवाले विद्याधर भला कैसे जीत सकते हैं? और जो इसी भव में पूर्ण अहिंसक रीति से मोहमल्ल को पछाड़नेवाला है, कर्म शत्रुओं को जीतकर मुक्तिपुरी का राज्य प्राप्त करनेवाला है, उसे इन हिंसक रीति से जीतकर प्राप्त होनेवाले राज्यों से प्रयोजन ही क्या?

राजा श्रेणिक, सेनादल एवं विद्याधर – सभी जम्बूकुमार के मुख से ही रत्नचूल के साथ हुए युद्ध में प्राप्त विजयश्री के समाचार सुनना चाहते थे, एतदर्थ उन्होंने जम्बूकुमार से निवेदन किया परन्तु जम्बूकुमार मौन रहे, उन्होंने किसी से कुछ नहीं कहा।

राजा मृगांक ने जम्बूकुमार के प्रति आभार व्यक्त करते हुए उन्हें सम्मानित किया तथा राजा श्रेणिक से अपनी कन्या को पत्नी के रूप में स्वीकार करने का निवेदन किया। पश्चात् पाणिग्रहण संस्कार की सम्पूर्ण क्रिया राजशाही ठाट-बाठ से सम्पन्न हुई। अन्त में सभी को यथायोग्य सम्मान के साथ विदाई दी गई।

जब राजगृही नगरी के उपवन में द्वितीय अनुबद्ध केवली सुधर्माचार्य का छद्मस्थ अवस्था में ससंघ आगमन हुआ तो यह समाचार ज्ञात होते ही राजा श्रेणिक तो अपनी नव विवाहता पत्नी विशालवती एवं अन्य सभी रानियों के साथ आचार्यश्री के दर्शनार्थ वहाँ पहुँचे ही; श्रेष्ठी पुत्र जम्बूकुमार सहित नगर के अनेक जैन नागरिक भी वन्दनार्थ वहाँ पहुँचे। सभी मुनिसंघ की वन्दना कर यथास्थान बैठ गये।

प्रातः नौ बज रहे थे, आचार्यश्री का उपदेश अभी-अभी प्रारम्भ हुआ ही था, सभी ने एकाग्रचित्त से आचार्यश्री का प्रवचन सुना। तत्पश्चात् राजा श्रेणिक धर्मलाभ मिलने के लिए अपने भाग्य को सराहते हुए प्रजा के साथ घर वापिस आ गये किन्तु विरक्त चित्त जम्बूकुमार गुरुओं के चरणों में ही बैठे रहे।

कुछ समय बाद वे ससंघ आचार्यश्री का गुणगान करते हुए बोले – 'हे समदर्शी गुरुवर! हे वीतरागी विभो! मेरे मन में

अनेक प्रश्न उठ रहे हैं। मैं आपके मुखारविन्द से विशेष सूक्ष्मता से जानना चाहता हूँ कि – मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? यह कौन–सा पुण्योदय हुआ जो मुझे आप जैसे सन्तों के दर्शनों एवं उपदेश सुनने का लाभ मिला है?'

सुधर्माचार्यश्री बोले – **'हे भव्योत्तम! तुम स्वभाव से ज्ञानानन्दमयी, शाश्वत् चैतन्यतत्त्व हो, तुम अनन्त शक्तियों एवं गुणों के भण्डार हो। जगत का ज्ञाता–दृष्टा रहना ही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। अपने त्रिकाली शाश्वत कारणपरमात्मा का संवेदन करना ही तुम्हारा काम है। यह तो तुम्हारे द्रव्यस्वभाव का परिचय है, जिसके आलम्बन से तुम परमात्म पद प्राप्त करोगे।'**

रही बात कहाँ से आने की, सो उसका संक्षिप्त परिचय यह है कि – 'इसी मगध देश की वर्धमान नगरी में दो निकट भव्य सहोदर ब्राह्मण पुत्र थे, जिनके नाम भावदेव एवं भवदेव थे। उन दोनों ने शाश्वत् सुखदायी जिनदीक्षा धारण कर ली और समाधिमरणपूर्वक देह–त्याग कर वे तीसरे सनतकुमार स्वर्ग में देव हुए। वहाँ की आयु पूर्ण कर भावदेव, वज्रदन्त राजा का सागरचन्द नामक पुत्र हुआ और भवदेव, महापद्म चक्रवर्ती का शिवकुमार नाम का पुत्र हुआ। वहाँ भी वे दोनों जिनदीक्षा धारण कर उग्र तप करके समाधिमरणपूर्वक मरण कर छठवें ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में विद्युन्माली देव हुए। वहाँ से च्युत होकर जो भावदेव का जीव था, वह तो भरतक्षेत्र के संवाहपुर के राजा सुप्रतिष्ठित का सुधर्म नाम का पुत्र हुआ, वह मैं स्वयं हूँ; और भवदेव का जीव जो विद्युन्माली इन्द्र हुआ था, वह तुम स्वयं हो।'

सुधर्माचार्य आगे अपने पिता सुप्रतिष्ठित का परिचय देते हुए बोले – 'मेरे पिता धर्मानुरागी सुप्रतिष्ठित राजा एक दिन अपनी पटरानी रूपवती (मेरी माँ) एवं पुत्र सुधर्म (मुझ) सहित भगवान महावीर प्रभु की वंदनार्थ समवसरण में गये। वहाँ भगवान की दिव्यध्वनि सुनकर मेरे पिता राजा सुप्रतिष्ठित ने संसार-शरीर एवं भोगों से विरक्त होकर अष्ट कर्मों की नाशक जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। ज्ञान-ध्यान में लीन, वैराग्य मूर्ति सुप्रतिष्ठित को द्वादशांग की अपूर्व लब्धियाँ प्रगट हो गईं और वे भगवान महावीर के चौथे गणधर बन गये।'

(ज्ञातव्य है कि सुधर्माचार्य भी महावीरस्वामी के पाँचवें गणधर थे।)

जब जम्बूकुमार, रत्नचूल से युद्ध करते हुए नर संहार के कारण मन ही मन पश्चाताप और अपनी निन्दा कर रहे थे, उसी समय बंधनग्रस्त रत्नचूल मन ही मन जम्बूकुमार की प्रशंसा कर रहा था। वह सोच रहा था कि 'दूसरे साधारण व्यक्ति तो दूसरों की सहायता से विजय प्राप्त करने पर भी अभिमान से उद्धत हो जाते हैं किन्तु जम्बूकुमार ने बिना किसी की सहायता से अपने ही पराक्रम से मुझे परास्त कर विजय प्राप्त की, फिर भी निर्मद हैं।' तभी और भी अनेक राजा जम्बूकुमार का गुणगान कर रहे थे।

उसी समय मृगांक का दूत व्योमगति विद्याधर अपने स्वामी राजा मृगांक को सम्बोधित करके बोल उठा – 'हे स्वामी! आपने मदान्ध रत्नचूल को जीतकर अपनी यश पताका फहराई।

मैंने आपकी वीरता की जैसी यशगाथा सुनी थी, वैसी ही आज प्रत्यक्ष देख ली है।'

विद्याधर मृगांक की झूठी प्रशंसा रत्नचूल को सहन नहीं हुई। वह क्रोधी होकर बोला – 'अरे! विद्याधर व्योमगति! तेरी इस मिथ्या प्रशंसा में एक शब्द भी तो सत्यांश नहीं है। वस्तुत: यह विजय जम्बूकुमार की है, तुम व्यर्थ ही गर्वाचित हो रहे हो। तुमने धीर-वीर-गम्भीर जम्बूकुमार के बल पर ही यह विजय प्राप्त की है। तुम तो कायर हो! यदि तुम्हारी बाहुओं में दम हो तो अब पुन: युद्धस्थल में आ जाओ! मैं अभी ही तुम्हें यमलोक में पहुँचाता हूँ।'

जम्बूकुमार ने पहले तो रत्नचूल को समझाया, परन्तु जब वह मंदान्ध रत्नचूल नहीं माना तो जम्बूकुमार ने उसे मृगांक से युद्ध करने के लिए बन्धन मुक्त कर दिया। संयोग से मृगांक परास्त हो गया तो रत्नचूल अपनी विजय मानकर मृगांक को कैद कर घर ले जाने लगा, तब जम्बूकुमार ने उसे रोकते हुए कहा – 'मैं मृगांक के साथ हूँ। मेरे रहते तू मृगांक को ले जाने की अनधिकृत चेष्टा मत कर! क्यों अपने ही हाथों मृत्यु को आमन्त्रण दे रहा है? तू मुझसे परास्त है न! मैंने तुझे जैसा बन्धन से मुक्त किया है, वैसे ही मैं पुन: बाँध सकता हूँ।'

जोश में आकर रत्नचूल ने पुन: युद्ध करने के लिए कुमार को ललकारा तो जम्बूकुमार पहले तो असमंजस में पड़ गये क्योंकि वे दयावान होने से यह नहीं चाहते थे कि पुन: युद्ध में व्यर्थ ही नरसंहार हो। इस कारण यद्यपि उनका हृदय द्रवित हो गया, इस कारण वे युद्ध से विरक्त भी हुए परन्तु रत्नचूल विद्याधर

के मान का मर्दन करना उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ, अत: उन्होंने कहा – 'शक्ति परीक्षा ही तो करना है, अत: क्यों न हम दोनों ही युद्ध कर अपनी शक्ति का परिचय दें। व्यर्थ में सेना का संहार क्यों करें?'

रत्नचूल तैयार हो गया। दोनों के बीच युद्ध हुआ। जम्बूकुमार ने रत्नचूल के नागबाण को गरुड़ बाण से तोड़ दिया तथा अग्निबाण को शीतल जल वर्षा बाण से शान्त कर दिया। रत्नचूल के तोमरे शस्त्र को भी लीला मात्र में तोड़ डाला।

इस तरह जम्बूकुमार ने रत्नचूल को जीत कर एवं पुन: बन्धन में डालकर विद्याधर मृगांक को बन्धन मुक्त करा दिया। जम्बूकुमार को विजयश्री प्राप्त होने पर देवों ने भी खुशियाँ मनाईं। मृगांक राजा की राजधानी केरल में वीणा की ध्वनि के साथ जयगान हुए।

राजा मृगांक, जम्बूकुमार के द्वारा किये गये उपकार से उपकृत हो अनेक राजाओं एवं सभी प्रकार से यशोगान करते हुए जम्बूकुमार को हाथी पर बिठाकर केरल नगर में ले गये।

जम्बूकुमार की धीर-वीर-गुण गम्भीर मुखमुद्रा को एवं अतुल्यबल को प्रत्यक्ष देखकर व्योमगति विद्याधर आनन्द से उछलने लगा। नगर की युवतियाँ झरोखों से जम्बूकुमार पर पुष्प वर्षा कर रही थीं। कोई उनकी शान्तमुद्रा को, कोई दयामयी भावों को तो कोई उनकी वैराग्यपरिणति को निरख रहे थे। कोई अपने राज्य को, कोई अपने सौभाग्य को उनके संरक्षण में सुरक्षित जानकर प्रमुदित हो रहे थे। कोई उनके अद्भुत पराक्रम को तो उनके धैर्य की प्रशंसा कर रहे थे।

जब जम्बूकुमार ने केरल के राजमहल में प्रवेश किया तो राजा मृगांक की रानियाँ एवं कुमारियाँ उन्हें देखते ही दंग रह गईं। उनने जम्बूकुमार का रत्नचूर्ण से तिलक लगाकर स्वागत किया। जब राजा मृगांक स्वयं सेवक की भाँति जम्बूकुमार की सेवा में तत्पर था, उसी समय जम्बूकुमार मन ही मन देव-शास्त्र-गुरु का स्मरण कर रहे थे।

कहते हैं धर्म आराधक कहीं भी कैसी भी परिस्थिति में हो, वह कभी अपने इष्टदेव की आराधना और स्मरण करना नहीं भूलता।

जिनालय में जिनेन्द्र पूजन, भोजन एवं विश्राम के बाद केरल के राजा मृगांक नृप ने जम्बूकुमार को राजसभा में सिंहासन पर बैठाया तथा बन्धनबद्ध विद्याधर रत्नचूल को बन्धनमुक्त करते हुए मुक्त वचनों से सम्बोधिक कर सन्तुष्ट करते हुए कहा – 'हे विद्याधर! युद्ध में यदि किसी एक की जय तो दूसरे की पराजय तो होती ही है। इसमें क्षत्रिय हर्ष-विषाद नहीं करते।'

जम्बूकुमार ने रत्नचूल से कहा – **'हे भ्राता! सांसारिक युद्धों की जीत में भी मनुष्य पर्याय की तो हार ही है। शारीरिक बल एवं पुण्य-प्रताप मुक्तिमार्ग में अकिंचित्कर हैं। मानव की असली जीत तो मोहमल्ल को जीतने में है।**

द्रव्यकर्म, भावकर्म व नोकर्मों से भिन्न चैतन्य प्रभु की उपासना, कारणपरमात्मा की आराधना से मुक्तिपुर का राज्य प्राप्त कर अनन्त सुख प्राप्त करना ही सच्चा राज सुख प्राप्त करना है।

हे विद्याधर! केवलज्ञान विद्या को धारण करना ही सच्चा विद्याधरपना है, तुम उस विद्या को प्राप्त कर अनन्त काल तक सुखी होओ – यह मेरी मंगल कामना है।'

जम्बूकुमार के आत्महितकारी वचनामृत का पान कर रत्नचूल विनम्र भावों से विनयपूर्वक बोला – 'हे स्वामी! हे शूरवीर! मैं आपके साथ ही चलकर श्रावक शिरोमणि राजा श्रेणिक के दर्शन करना चाहता हूँ।' रत्नचूल की भावना देखकर जम्बूकुमार ने भी साधुवाद दिया।

मृगांक नृप ने अपने दूत व्योमगति विद्याधर को आदेश दिया 'आप विमान में बैठाकर जम्बूकुमार को उनके यथायोग्य स्थान पर पहुँचाइये।' मृगांक के आदेशानुसार व्योमगति ने एक विमान से जम्बूकुमार और रत्नचूल को लेकर राजा श्रेणिक से मिलने के लिए प्रस्थान किया। दूसरे विमान में राजा मृगांक ने भी अपनी पत्नी एवं विशालवती कन्या को लेकर पाँच सौ योद्धाओं के साथ राजा श्रेणिक के पास जाने के लिए प्रस्थान किया।

जब जम्बूकुमार उन सभी विद्याधरों को साथ लेकर राजा श्रेणिक के पास पहुँचे तो राजा श्रेणिक, जम्बूकुमार को अनेक राजाओं के साथ सदलबल आते देख सिंहासन से उठे और आदर के साथ जम्बूकुमार को हृदय से लगाते हुए बोले – 'हे

जम्बूकुमार! बहुत दिन हो जाने से मेरी आँखें तुम्हें देखने को तरस गई थीं। अब तुम्हें देखकर मेरा हृदय हर्ष से फूला नहीं समा रहा है।' इस प्रकार बोलते हुए राजा श्रेणिक ने जम्बूकुमार को अपने निकट सिंहासन पर बैठा लिया।

राजा मृगांक के दूत विद्याधर व्योमगति ने खड़े होकर महाराजा श्रेणिक से सबका परिचय कराते हुए कहा – 'यह राजा मृगांक हैं, जो अपनी पुत्री विशालवती को आपसे ब्याहना चाहते हैं। यह राजा रत्नचूल है, जो अब तक अजेय थे, पर उन्हें जम्बूकुमार ने युद्ध में पराजित कर दिया है। राजा मृगांक, जम्बूकुमार की बारम्बार प्रशंसा करने लगे क्योंकि जम्बूकुमार ने मृगांक की पुत्री को रत्नचूल के चंगुल से मुक्त कराया था। सज्जन पुरुष किए गए उपकार को कभी नहीं भूलते।

तदुपरान्त राजा श्रेणिक ने राजा मृगांक और रत्नचूल के बीच मित्रता कराई। सब अतिथि, राजा श्रेणिक से विदाई लेकर अपने-अपने घर प्रस्थान कर गये। व्योमगति विद्याधर भी अपने स्वामी राजा मृगांक के कार्य को सम्पन्न करा अपने घर लौट आया।

❖ ❖ ❖

जम्बूकुमार ने जब दूसरों के द्वारा जवानी के जोश में कषायोंवश युद्धक्षेत्र में हुए प्राणिघात के भयानक दृश्य देखे एवं स्वयं से भी प्रमादवश रत्नचूल के साथ हुए युद्ध में हिंसक घटनायें हुईं; इस कारण वे पश्चाताप के सागर में डूब गये। वे सोचने लगे **'जैसे जल स्वभाव से तो शीतल ही होता है, पर वह अग्नि के संसर्ग से उष्ण होकर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता; उसी प्रकार आत्मा स्वभाव से तो शान्त ही है**

परन्तु अपनी कमजोरीवश कषायों के कारण अशान्त हो जाता है, फिर भी उसका शान्तस्वभाव नष्ट नहीं होता, इसीलिए ज्ञानी पुरुष दुर्गति के कारणभूत अज्ञान एवं क्रोध-मानादि कषायों को त्याग ही देते हैं। मैं भी भविष्य में ऐसी कोई भूल नहीं करूँगा, जिससे किसी को भी पीड़ा पहुँचे।'

जो अज्ञानी प्राणी, इन्द्रियों के विषयों एवं कषायों में गाफिल हो जाते हैं, वे पतंगे की भाँति विषय-कषायों की ज्वाला में जल जाते हैं।

प्रथम तो पुण्योदय के बिना अनुकूल विषयों का मिलना ही दुर्लभ होता है, कदाचित् पुण्योदय से मिल भी जायें तो भी विषय भोगों की ज्वाला दिन दूनी-रात चौगुनी दहक-दहक कर जलती ही रहती है।

निज स्वरूप को भूलकर अज्ञानी प्राणी पर को अपना मानकर एवं विषयों में सुख मानकर मृग-मरीचिका के समान विषयों के सन्मुख दौड़ते हैं।

इस मिथ्या अन्धकार के नाश का एकमात्र उपाय देव-शास्त्र-गुरु के आलम्बन से वस्तु स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को समझना और निजात्मा की आराधना करना ही है।

जम्बूकुमार पुनः विचार करते हैं - 'धिक्कार है इस शरीरबल को, धिक्कार है मेरी लौकिक चतुराई और युद्ध कौशल को, जो व्यर्थ के पाप कार्यों में प्रवृत्त होता है।

तत्त्वज्ञान में निपुण होकर भी मेरी बुद्धि को क्या हो गया? जो मैं व्योमगति विद्याधर की बातों में आकर रत्नचूल के साथ युद्ध में प्रवृत्त हुआ, बिना प्रयोजन ही रत्नचूल और मृगांक के

बीच में पड़ गया। अस्तु: जो होना था सो हो गया। अब बुद्धिपूर्वक ऐसी भूल की पुनरावृत्ति कभी नहीं करूँगा।

अभी ऐसा ही होना था – ऐसा विचार बन गया। जैसी होनहार होती है, उसी दिशा में पुरुषार्थ होने लगता है। सहयोगी भी वैसे ही मिल जाते हैं। पर, यह सोच सही नहीं है, क्योंकि यह प्रवृत्ति राग–द्वेषजनक होने से संसार को ही बढ़ानेवाली है।'

केरल का राजा मृगांक, जो अपनी पुत्री विशालवती को महाराजा श्रेणिक को देना चाहता था। एतदर्थ उसने अपने दूत व्योमगति विद्याधर को श्रेणिक के पास भेजा था परन्तु रास्ते में रोककर रत्नचूल विद्याधर ने मृगांक की कन्या विशालवती से स्वयं की शादी करने की बात कही। इस कारण जम्बूकुमार ने न चाहते हुए भी मृगांक के और राजा श्रेणिक के पक्ष में व्योमगति को सहयोग देकर अजेय पराक्रमी विद्याधर रत्नचूल के साथ घमासान युद्धकर उसको खेल–खेल में जीतकर अपने साहस और धीरता–वीरता का जो परिचय दिया, उससे रत्नचूल तो प्रभावित हुआ ही, राजा श्रेणिक और राजा मृगांक भी आश्चर्यचकित हुए।

जम्बूकुमार ने सुधर्माचार्य की धर्मसभा में यह जानने की जिज्ञासा भी प्रगट की कि – 'किस पुण्योदय से मुझे यह जिनधर्म जिनवाणी और आप जैसे सन्तों का समागम मिला है?'

आचार्यश्री ने कहा – 'धर्मवत्सल! तुम्हारी पूर्व आराधनाओं का ही सुफल है, जिससे तुम्हें परम पावन करनेवाला जिनधर्म

मिला, जिनवाणी मिली और भव का अन्त करनेवाले वीतरागी सन्त मिले हैं।'

जम्बूकुमार में विगत पाँच भवों से धर्म के संस्कार तो थे ही, आत्मा की पहचान भी थी। अब जम्बूकुमार को जगत का जड़ वैभव भी तृणवत-भासित होने लगा। उन्हें सारा संसार ही असार लगने लगा। उनका मन जिनदीक्षा के लिए तैयार हो गया। अत: वे गुरुवर सुधर्माचार्य के समक्ष जिनदीक्षा की प्रार्थना करने लगे।

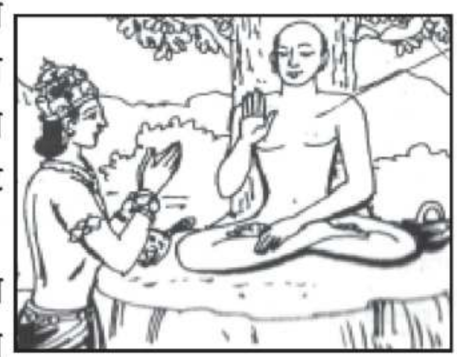

सौम्य, शान्त, वैराग्यमूर्ति चार ज्ञान के धारी श्री सुधर्माचार्य ने अवधिज्ञान से जम्बूकुमार को अति निकट भव्य जानकर कहा, 'हे भव्य! यदि तुम्हें जिनदीक्षा लेने की तीव्र उत्कण्ठा है तो तुम अपने घर जाकर अपने माता-पिता एवं बन्धुवर्ग से सहमति लेकर आओ; उनके प्रति हुए ज्ञात-अज्ञात अपराधों की क्षमा कराके आओ।'

जम्बूकुमार मन में विचार करते हैं – 'सर्व प्रथम तो आचार्यश्री की आज्ञानुसार घर जाना ही होगा, जो जिनदीक्षा लेने के पूर्व आवश्यक कर्तव्य हैं, उनकी पूर्ति किए बिना कोई जिनदीक्षा देने जैसा पावन कार्य क्यों करेगा?' अत: उन्होंने घर की ओर प्रस्थान तो किया परन्तु वे मन में शीघ्र वापिस आने के सङ्कल्प के साथ गये।

घर पहुँचकर संसार से विरक्त जम्बूकुमार उदास मन से

एकान्त स्थान में बैठ गये। माता जिनमती तो पुत्र की विजय सुनकर हर्षित थी, किन्तु पुत्र को उदास देखकर उदासी का कारण कुछ समझ नहीं पायी। माँ ने पूछा – 'बेटा! तुम उदास क्यों हो?'

जम्बूकुमार ने अपने सरल हृदय की सभी बातें माता को बता दीं। उन्होंने कहा – 'हे माँ! अब मुझे संसार असार लगने लगा है। मुझे ये सब भोगोपभोग त्यागकर जिनदीक्षा लेना है। अब मैं अपने पाणिपात्र में सहजभाव से प्राप्त आहार ही ग्रहण करूँगा और अतीन्द्रिय आनन्द में केलि करूँगा। सन्तों की शीतल छाया ही सच्ची सुखदायक है।'

पुत्र की बातें सुनकर माँ जिनमती, मोह में मोहित होकर मुरझा गईं और आँखों से आँसू की धार बहाती हुई बोली – 'बेटा! ऐसा क्या हुआ जो विजयश्री की प्रसन्नता के बदले सीधे जिनदीक्षा लेने की ठान ली है?'

माँ के प्रश्न के उत्तर में जम्बूकुमार ने सुधर्माचार्य से सुना वैराग्योत्पादक उपदेश माँ को सुना दिया। उपदेश का सार सुनकर माँ जिनमती के अन्तर में भी धर्म भावना जागृत हो गई। माँ ने अपने चित्त को शान्त करके सेठ अर्हद्दास को भी सम्पूर्ण समाचार सुना दिये और कहा कि 'जम्बूकुमार चरमशरीरी है, अत: यह जिनदीक्षा लेना चाहता है।'

सेठ अर्हद्दास यह समाचार सुनते ही मोहवश मूर्च्छित हो गये। जम्बूकुमार एवं सभी ने शीतल जल एवं पवन आदि के उपचार से उनकी मूर्च्छा दूर की तो वे हाहाकार करने लगे। उससे सभी के हृदय द्रवित हो गये किन्तु जम्बूकुमार पर उसका कुछ भी विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा।

पिता ने जम्बूकुमार से कहा – **'बेटा! जरा शान्ति से सभी बातों का विचार करो। देखो! व्रत-प्रतिज्ञा न लेने का अल्प दोष है किन्तु व्रत ग्रहण कर फिर छोड़ना, व्रत भंग होना महापाप का कारण है। यद्यपि मुक्ति पाने के लिए मुनि होना तो अनिवार्य ही है क्योंकि मुनि हुए बिना तो आठों कर्मों का अभाव ही नहीं होता और आठों कर्मों के अभाव बिना मुक्ति पाना सम्भव नहीं है, यह मैं जानता हूँ परन्तु पहले घर में ही रहकर देशव्रत पालन करने का अभ्यास करो, फिर महाव्रत अङ्गीकार करना, यही क्रम आचार्यों ने भी बताया है।'**

जम्बूकुमार, पिता के वचनों को सुनकर विचार कर रहे थे कि 'जगत् को जिनदीक्षा लेना भले ही कठिन लगे परन्तु मैं तो पिछले दो भवों से मुनिव्रत धारण कर अतीन्द्रिय आनन्द का रसपान करता आ रहा हूँ; अतः मेरे लिए यह कोई नया, असाध्य एवं कठिन कार्य नहीं है।'

यह विचार कर जम्बूकुमार ने पिताश्री से कहा – 'हे पिता! बाह्य वस्तुएँ सुख-दुःख की कारण नहीं होती। अतीन्द्रिय आनन्द में रमनेवालों को क्या उपसर्ग और क्या परीषह! अतः हे तात! आप मेरे प्रति मोह को छोड़कर मेरे वीतरागी पथ पर अग्रसर होने की अनुमोदना कीजिए, मुझे मुनिधर्म धारण करने की आज्ञा दीजिए।'

जम्बूकुमार को मुक्तिमार्ग में दृढ़ जानकर अर्हद्दास सेठ ने अपने मन को शान्त किया और एक चतुर सेवक से कहा – 'तुम शीघ्र जाकर सागरदत्त आदि चारों श्रेष्ठीजनों को यह समाचार

देकर कहो कि – जम्बूकुमार संसार से विरक्त हो जाने के कारण जिनदीक्षा लेने को तैयार है; अत: अब आपकी कन्याओं के विवाह सम्भव नहीं है।'

सेवक, सागरदत्त सेठ के सम्मुख जाकर नीचे मुँह लटकाकर खड़ा हो गया। सागरदत्त ने सेवक को इस प्रकार उदास भाव से खड़ा देखकर कारण पूछा। उत्तर में सेवक ने निराशा का भाव व्यक्त करते हुए जम्बूकुमार के वैराग्य का समाचार सुनाया और कहा कि 'अब आपकी पुत्रियों के विवाह की सम्भावना नहीं है।'

सागरदत्त ने कहा – 'अरे सेवक! यह क्या कह रहे हो?'

सेवक से सबकुछ जानकारी लेने के बाद सागरदत्त ने ये दु:खद समाचार अन्य तीनों श्रेष्ठियों को भी भिजवा दिये। तीनों सेठ सागरदत्त के पास आ गये और चारों सेठ सोच में पड़ गये। अब क्या किया जाय?

धनदत्त ने कहा – 'क्यों न हम सब जम्बूकुमार के पास चलकर उन्हें ही समझायें? उन्हीं से अननय विनय करें।'

सागरदत्त ने कहा – 'जब माता-पिता के ही सब प्रयास विफल हो गये तो हम चलकर क्या करेंगे? क्या चरमशरीरी व्यक्ति के वैराग्य को भी बदला जा सकता है। मुझे तो यह सब असम्भव लगता है। फिर इस मङ्गलमय भावों की तो हमें भी अनुमोदना ही करना चाहिए।'

सागरदत्त के ऐसे विचार सुनकर अन्य तीनों श्रेष्ठीजन दु:खित मन से दीर्घ श्वांस छोड़ते हुए बोले – 'यदि कुमार कुछ काल संसार में रूककर हमारी पुत्रियों के सौभाग्य तिलक बनते तो कितना अच्छा होता?'

ऐसा कहते-कहते उनकी आँखों से आँसू आ गये।

सेठ सागरदत्त उन्हें धीरज बँधाते हुए बोले – 'होनहार के आगे किसका वश चला है ? अत: शोक छोड़कर पुत्रियों के हित में जो सम्भव हो वह करो।'

चारों श्रेष्ठियों ने सबसे पहले तो यह विचार किया कि पहले तो पुत्रियों को सान्त्वना देते हुए यह अप्रिय समाचार सुनाये जायें कि जम्बूकुमार शादी करने को राजी नहीं हैं।

सेठ सागरदत्त ने सबकी सम्मति से पुत्रियों एवं उनकी माताओं को बुलाकर सीधे समाचार न सुनाकर उपदेश की भाषा में कहा – 'हे पुत्रियों ! तुम सभी ने आर्यिका माताजी के सान्निध्य में संसार के स्वरूप को और वस्तुस्वभाव को समझा है, प्रत्येक वस्तु नित्य रहकर भी प्रतिपल पलटती रहती है। प्राणियों के परिणामों में भी कभी मन्दता, कभी तीव्रता, कभी रागरूप तो कभी वीतरागरूप परिणमन होता है। यह जानकर विवेकीजन इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग में हर्ष-विषाद नहीं करते।'

पद्मश्री ने कहा – 'हे तात ! अकस्मात् इस प्रकार वस्तुस्वरूप का उपदेश क्यों दिया जा रहा है ? अभी कोई स्वाध्याय का समय अथवा तत्त्व प्रतिपादन का प्रसङ्ग तो है नहीं। इस समय यह सब वार्ता करने का क्या प्रयोजन है ? क्या श्रेष्ठी पुत्र जम्बूकुमार ने दूत के द्वारा कोई नया अनहोना सन्देश भेजा है ?'

धनदत्त श्रेष्ठ ने कहा – 'हे पुत्रियों ! जम्बूकुमार ने अपने माता-पिता के अनेक प्रकार से समझाये जाने पर भी विवाह के राग-रंग में फँसने से मना कर दिया है और उन्होंने मुनि होने का

निर्णय ले लिया है। यद्यपि समाचार शुभ हैं परन्तु अपने लिए इष्ट नहीं है; अतः तुम इस कर्ण-कटु अप्रिय समाचार से व्यथित न हों। हम सभी एक बार पुनः कुमार से मिलकर विवाह करने का अनुरोध करेंगे।'

इतना सुनते ही पद्मश्री की माँ पद्मावती रुदन करने लगी।

सागरदत्त ने समझाया – 'प्रिय पद्मावती! तुम दुःखी न होओ। धैर्य धारण करो एवं पुत्रियों को धैर्य बँधाओ। प्रथम तो जम्बूकुमार को ही राजी करने का प्रयास करते हैं, फिर भी यदि जम्बूकुमार विवाह करने को तैयार नहीं होंगे तो अन्य योग्य वरों की तलाश करेंगे।'

सागरदत्त के द्वारा इस प्रकार के समाचारों एवं आश्वासनों को सुनते ही चारों कन्यायें एकदम बोली – 'हे तात! हम सभी ने मन ही मन यह निश्चय कर लिया है कि हमारे पति तो अब जम्बूकुमार ही हैं; अन्य को तो हम स्वप्न में भी स्वीकार नहीं कर सकती क्योंकि जिसको हमारे मन ने एक बार अपने पति के रूप में मान लिया है, स्वीकार कर लिया है; उस मन में अब अन्य कोई व्यक्ति पति का स्थान नहीं पा सकता। यदि जम्बूकुमार शादी करने से मना करके मुक्तिपथ पर अग्रसर होते हैं तो हम चारों भी उन्हीं का अनुसरण करेंगी।'

अपनी पुत्रियों के दृढ़ निश्चय को जानकर चारों ही श्रेष्ठी जम्बूकुमार के पिता अर्हद्दास के पास पहुँचे और अपनी पुत्रियों के विचारों से उन्हें अवगत कराते हुए बोले – 'हे मित्र! कुमार के मन में अचानक ऐसी विरक्ति आने का क्या कारण है? उन्होंने इतनी लघुवय में इतना कठोर कदम क्यों उठाया? यद्यपि

अन्तिम लक्ष्य सबका यही होना चाहिए, हम भी इस बात से पूर्ण सहमत हैं परन्तु शादी करके कुछ दिन गृहस्थ जीवन में रहकर धीरे-धीरे शक्ति के अनुसार मोक्षमार्ग में कदम बढ़ायें तो अति उत्तम होगा।'

अर्हद्दास ने कहा - 'हे मित्रों! इस परिस्थिति में आप लोगों का सोचना और कहना सर्वोत्तम है। हम भी आप लोगों के विचारों से पूर्ण सहमत हैं, एतदर्थ हमने भी उन्हें समझाने में अपनी पूरी शक्ति लगा ली परन्तु कुमार अपने दृढ़ निश्चय से टस से मस होने को तैयार ही नहीं है; अतः हम विवश हो गये हैं।

कुमार की विरक्ति के प्रसंग में बात यों बनी कि - कुमार जब केरल के युद्ध से वापिस अपने नगर आये तो उन्होंने नगर के उपवन में पूज्य श्री सुधर्माचार्य से संसार, शरीर और भोगों की असारता का स्वरूप सुना तथा युद्ध में हुए नरसंहार को अपनी आँखों से देखा और उन्हें उस हिंसक युद्ध में सम्मलित भी होना पड़ा। इस कारण उनका मन सांसारिक सुखों से सर्वथा विरक्त हो गया है। फिर भी प्रयत्न करते हैं; देखें फिर क्या होता है।'

❖ ❖ ❖

वैराग्यरस में सराबोर मुक्तिकान्ता के अभिलाषी को सांसारिक भोगों की आकांक्षा लेशमात्र न होने पर भी माता-पिता के अति आग्रह पर जम्बूकुमार ने उदास मन से शादी के लिए मौन स्वीकृति प्रदान कर दी।

अर्हद्दास को एक ओर तो कुमार का विवाह न कराने का इरादा, विवाह के प्रति अरुचि एवं अनुत्साह दिख रहा था और दूसरी ओर उन्हें उन कन्याओं के सौन्दर्य एवं व्यवहार-कुशलता

के कारण ऐसा लग रहा था कि सम्भव है कि इनके अन्तर्बाह्य आकर्षक व्यक्तित्व के कारण कुमार कुछ काल तक रुक जायें। अत: प्रसन्नतापूर्वक तत्क्षण विवाहोत्सव की तैयारियाँ करना प्रारम्भ कर दिया तथा शुभ लग्न देखकर समस्त इष्टजनों एवं पंच-परमेष्ठियों की साक्षीपूर्वक कुमार का चारों सुकन्याओं के साथ यथाशीघ्र विवाह सम्पन्न करा दिया गया। चारों श्रेष्ठियों ने वर-वधुओं का रत्नमयी अलङ्कारों से यथोचित सम्मान किया।

शादी के बाद कुमार की बारात अपने महल को लौटी। बारात आने पर वर के माता-पिता एवं इष्टजनों ने वर-वधुओं का द्वार पर मङ्गलगान गाते हुए रत्न-द्वीपों द्वारा स्वागत करते हुए उन्हें गृह-प्रवेश कराया।

जम्बूकुमार के माता-पिता द्वारा किमिच्छक दान दिया गया। वे पूर्ण आशान्वित थे कि इन चारों सुकन्याओं का रूप-लावण्य एवं व्यवहार कुशलता कुमार के चित्त को अवश्य हर लेगी। पुन: सशङ्कित होते हैं कि क्या सचमुच कुमार रुक जायेंगे? हे भगवान! कहीं ऐसा न हो कि कुमार चले जायें? क्योंकि वे जानते थे कि चरमशरीरी पुत्र के वैरागी चित्त को बदलना अत्यन्त कठिन होता है। उनका मन बारम्बार डोल रहा था। कभी तो चिन्तित होते और कभी दोनों आपस में बातें करते हुए एक-दूसरे को धैर्य बँधाते।

जम्बूकुमार के गृहस्थावस्था में प्रवेश करते हुए पत्नियों से प्रथम मिलन में ही जो वैराग्यवर्द्धक बातें हुईं, वे उन जैसे वैरागी व्यक्ति के लिए असम्भावित नहीं थी। अधिकतर लोग जानते थे कि यह गृहस्थी लम्बे काल तक चलनेवाली नहीं है। यह भी

अनुमान लगाते थे कि सम्भवत: नया प्रभात कुछ ऐसा होगा, जो जम्बूकुमार के दर्शन जम्बूस्वामी के रूप में देगा और अन्तत: हुआ भी यही।

विवाहोपरान्त घर वापिस आने के बाद इधर कुमार तो अपने महल के कक्ष में जाकर एकान्त स्थान में स्वरूप-आराधना के लिये प्रयत्नरत हो गये। उधर चारों वधुएँ महल के अपने-अपने निर्धारित कक्षों में पहुँचकर कुमार की प्रतीक्षा करने लगीं, परन्तु बहुत समय की प्रतीक्षा के बाद जब कुमार उनके कक्षों में नहीं पहुँचे तो चारों वधुओं ने सोचा कि कुमार के कक्ष में ही चलकर देखा जाये कि वे क्या कर रहे हैं ? अब तक यहाँ क्यों नहीं आये ?

वे कुमार के कक्ष में प्रवेश करती हैं और देखती हैं कि कुमार तो एक नि:स्पृह योगी की तरह निश्चल बैठे हुए हैं। तब चारों वधुएँ प्रणाम करते हुए बोली – 'हे स्वामी! आज के प्रथम मिलन के अवसर पर आपके रूठने का क्या कारण है ? आप जरा नेत्र तो खोलिए। बोलिये स्वामी! कुछ तो बोलिये! हम आपके वचन सुनने के लिए व्याकुल हैं।'

अत्यन्त आग्रह करने पर कुमार ने अर्द्धोन्मीलित नेत्रों से चारों वधुओं को ऐसे देखा जैसे कोई धर्मगुरु अपने शिष्यों को देखता है।

वे सोच रहे थे कि – प्रभात काल में फलीभूत होनेवाली मेरी भावनाओं से ये चारों पत्नियाँ अपरिचित हैं, अत: उनसे क्या कहा जाए ? फिर भी वे बोले – 'मैं किसी से भी रूठा नहीं हूँ।'

तब चारों वधुयें हाथ जोड़कर पूछती हैं – 'हे नाथ! यदि रूठे नहीं हैं तो फिर ऐसे अवसर पर ऐसी उदासी का क्या कारण है ?'

कुमार को मौन देखकर वधुयें पुन: बोलीं – 'हे स्वामिन्! हम सभी आपकी भावना जानना चाहती हैं।'

तब जम्बूकुमार बोले – 'हे देवियों! यह मानव भव वीतराग के पथ पर चलकर अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर संवेदन करने एवं शीघ्रातिशीघ्र मुक्ति प्राप्त करने के लिए मिला है। अत: मैं यह भावना भा रहा हूँ कि अगला प्रभात मुझे प्रचुर स्वसंवेदन के रूप में फलीभूत हो।'

बुद्धिमत्ता एवं रूपलावण्य में पगी हुई चारों वधुओं ने कुमार को रिझाने के लिए शृंगाररस गर्भित बातें की और कहा – 'हे नाथ! आप हमारे रूप-लावण्य को एक बार देखो तो सही, हमारे इन कोमल हाथों को स्पर्श करके तो देखो, हमारी मधुर वाणी को जरा सुनिये तो सही।'

परन्तु वैरागी कुमार तो नेत्र बन्द करके ऐसे शान्त बैठे रहे, मानो वधुओं की तरफ उनका लक्ष्य ही नहीं था।

अन्त में वे नवपरिणीता वधुयें पुन: बोलीं – 'हे स्वामिन्! हम सभी ने आपको निहार कर ऐसा अनुभव किया कि मानो स्वामी के विशाल नेत्रों में चंचलतारहित अत्यन्त शान्त एवं गम्भीर समुद्र लहरा रहा हो।'

'हे नाथ! हम सब आपको देखकर एवं आप जैसे धर्मात्मा का समागम पाकर कृतार्थ हो गयीं हैं। हमारे नयन आपको

देखकर पवित्र हो गये हैं। हे स्वामिन्! हमें अपनी शरण में लेकर अपने सत्संग से कृतार्थ कीजिए।'

शास्त्रपाठी अत्यन्त निपुण चित्तवाली पद्मश्री ने कहा – 'हे स्वामी! आप जैसे अध्यात्म रस में रँगे-पगे को अपने पति के रूप में पाकर हम चारों प्रमुदित हैं। हमारी स्त्रीपर्याय सार्थक हो गयी है। शादी की बात पक्की होने के बाद से ही आप हमारे मन में ऐसे बस गये कि हमारे चित्त में आपके सिवाय अन्य किसी को पतिरूप में स्वीकार करने की स्वप्न में कल्पना भी नहीं हुई, तथा शादी के बाद तो अब आप हमारे सर्वस्व ही हो गये। यह हमारा परम सौभाग्य है। अत: अब तो हम आपका ही पदानुसरण करेंगे।

स्वामिन! हम सभी आपका अनुसरण करते हुए तत्त्वों का अभ्यास करके आचार्यों द्वारा दर्शाये गये परम पवित्र जिनशासन को आत्मसात् करना चाहती हैं। हमारे मन में भी अब यह भाव जागृत हो गया है कि हम सब भी एक दिन सिद्धशिला की अधिकारिणी बनें। एतदर्थ हम सभी आपका शिष्यत्व स्वीकार करती हैं। आप हमारे धर्म गुरु बनकर हमें अपनी शरण में लेने की कृपा करें।'

तब विरक्तचित्त कुमार बोले – 'हे भव्य आत्मन्! आप सभी को संसार के दु:खद भोगों से विरक्त चित्त एवं आत्म-साधना में अनुरक्त देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई है। मैं आप सभी के मङ्गलमयी परिणामों की अनुमोदना करता हूँ। आप चारों धन्य हो। जिस उम्र में जगत के जीवों का मन विषय-भोगों में अनुरक्त होता है, उस उम्र में तुम्हारा चित्त अध्यात्म चर्चा में

लगने लगा है, आत्महित की बात सोचने लगा है। इससे सिद्ध होता है कि निश्चित ही तुम सभी निकट भव्य हो। तुम सभी की मङ्गल भावना को जानकर मुझे भी अपनी विरक्त परिणति के बारे में बतलाते हुए प्रमोद होता है। मेरा परिणाम भी इन विषय भोगों एवं संसार के दु:खों से उदास है और मैं प्रात: काल की पावन बेला में ही पूज्य गुरुवर सुधर्माचार्य से जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूँगा। मैं समझता हूँ कि यह जानकर तुम सबको प्रसन्नता होगी और तुम हमारे इस परिणाम की अनुमोदना करोगी एवं स्वयं भी आत्महित में लगोगी।'

कुमार के इस प्रकार कहते ही चारों वधुओं के मुख से सहज ही निकल पड़ा, 'हे स्वामिन्! आपकी मङ्गलमयी परिणति जयवन्त हो। हमें आपके वैराग्य को जानकर परम हर्ष है।'

तीनों बहिनों का समर्थन करते हुए कनकश्री पुन: प्रार्थना करती है कि – 'हे स्वामिन्! हम सब भी आपसे प्रेरणा प्राप्त कर आपके सान्निध्य में आत्महित के अभिलाषी हो गये हैं, परन्तु हम अबोध स्त्रियाँ कुछ समय तक गृहस्थावस्था में ही आपका सत्समागम चाहती हैं। हे स्वामिन्! आप कुछ ठहर कर हमें प्रतिबोधित करने के बाद ही दीक्षा धारण करें। हमें रत्नत्रय ग्रहण कराने में निमित्तभूत होवें, तब हम सभी भी आपके साथ दीक्षा धारण कर लेंगे। हे स्वामिन्! हमारे ऊपर इतना उपकार कीजिए।'

तब विरक्तचित्त कुमार बोले – 'हे भद्रे! तुम्हारा विचार तुम्हारी दृष्टि से उचित हो सकता है परन्तु आत्मार्थी कभी भी विलम्ब नहीं करते। तुम्हें भी एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करना चाहिए क्योंकि मनुष्य जीवन का एक-एक क्षण अमूल्य

है। हमें पता नहीं, आयु का कब अन्त आ जाय; अत: मैं तो कल प्रात:काल ही जैनेश्वरी दीक्षा धारण करूँगा।'

तब विनयश्री बोली – 'हे नाथ! आपका कहना सही है, परन्तु अभी तक हम सभी के कोमलांगों ने पाँचों इन्द्रियों के विषयों की अनुकूलता ही भोगी है, जिन्हें एकदम छोड़ पाना तो कठिन है ही, आत्म-साधना करना भी सहज कार्य नहीं है। हम अभी कठोर तप कैसे कर सकते हैं? अत: हम पहले अणुव्रतों को धारण कर धीरे-धीरे आत्मध्यान में स्थिर होने का अभ्यास करेंगे, फिर हम आपके साथ-साथ आर्यिका की दीक्षा धारण कर सकेंगे, तब तक आप भी रुक जायें। यह हमारा विनम्र निवेदन हैं।'

तब कुमार बोले – 'हे बुद्धिमते! भले ही तुम्हारा कहना उचित हो, लेकिन मैं नहीं रुक सकूँगा। यह बात सत्य है कि दर्शनमोह एक साथ जाता है एवं चारित्रमोह क्रम-क्रम से जाता है परन्तु सुकुमालजी ने कहाँ धीरे-धीरे अभ्यास किया था? सीताजी एवं अंजनाजी ने कहाँ धीरे-धीरे अभ्यास किया था? उदाहरण तो दुनिया में दोनों तरह के मिल जायेंगे। हाँ, जिनकी जैसी योग्यता हो, वे वैसा करते हैं; इसलिए जिनके परिणाम उतने निर्मल न हो पाये हों, वे धीरे-धीरे आत्माभ्यास करें तो भले करें परन्तु मेरा चित्त तो अब इस संसार के जंजाल में एक क्षणमात्र भी रुकने के लिए तैयार नहीं है।'

विनयश्री बोली – 'हे चरमशरीरी, तद्भव मोक्षगामी भरतार! आपकी इसी भव में मुक्ति तो नियम से होने ही वाली है, फिर आपको कुछ समय और रुकने में क्या आपत्ति है? हम आपके हित में बाधक तो हैं नहीं, संयोग भी जबरन तो संयोगीभाव

कराते नहीं, फिर संयोगों से बचने की इतनी प्रबल भावना क्यों?'

कुमार बोले – 'हे भामिने! यह बात तो परम सत्य है कि **एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भला-बुरा नहीं करता।** इस सिद्धान्त के अनुसार भी संयोग बुरे-भले नहीं हैं, अपने संयोगी भाव ही बुरा करते हैं और असंयोगी (वीतरागी) भाव भला करते हैं। जब तुम यह जानती हो कि मेरी इस भव में मुक्ति निश्चित है तो फिर इस सिद्धान्त के अनुसार तो दीक्षा का समय भी निश्चित ही है। कोई एक भी पर्याय अनिश्चित नहीं होती, प्रत्येक द्रव्य की अनादि-अनन्त काल की सभी पर्यायें निश्चित होती हैं, फिर तुम वस्तुस्वरूप को बदलने का निष्फल प्रयत्न क्यों करती हो?'

तुम जरा ध्यान से सुना – 'क्या इस संसार में जन्म-मरण के अनन्त दुःखों से तुम्हारा चित्त व्यथित नहीं हुआ है? क्या आकुलता-व्याकुलता, संक्लेश आदि तुम्हें दुःखरूप भासित नहीं होते? देखो, अब मैं नरक निगोद एवं चार गति, चौरासी लाख योनियों के दुःखों से थक चुका हूँ, अब तो मुझे इन सब दुःखों से शीघ्र ही मुक्ति पानी होगी।'

तब पद्मश्री बोली – 'हे स्वामिन्! आचार्यों की देशना में तो ऐसा आया है कि जो परपदार्थों को इष्ट-अनिष्ट मानता है, उसको सच्ची उदासीनता नहीं है। सच्ची उदासीनता तो उसका नाम है, जहाँ वीतराग होकर कोई परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित ही न हों। यदि स्वर्ग-मोक्ष के लोभ से और नरक-निगोद के भय से विषय-भोगों से उदासीन हो जाओगे तो यह द्वेषगर्भित उदासीनता होगी, जो अकार्यकारी है। अतः कुछ समय तो ठहरकर

आत्म-साधना करके रत्नत्रय प्रगट कर जिनदीक्षा धारण करोगे तो ही उचित होगा।'

पद्मश्री के आगमाश्रित तर्क सुनकर किंचित् मुस्कराते हुए कुमार बोले – 'हे आगमकुशले! यह बात सत्य ही है कि कोई परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं है और द्वेषरूप उदासीनता सच्ची उदासीनता नहीं है परन्तु मैं कोई तुमसे अथवा भोग-सामग्री से द्वेष करके अथवा मोक्ष के लोभ से विरक्त नहीं हुआ हूँ, लेकिन अब मेरा मन आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का प्रचुर संवेदन करने के लिये, आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का निराबाध उपभोग करने के लिये उत्कंठित हो रहा है।

जिसे आत्मा ही सुखरूप भासित हो रहा है, उसे पर में द्वेषरूप उदासीनता नहीं है।'

पुन: विनयश्री बोली – 'हे नाथ! इस अल्प वय में इस प्रकार भोगों को छोड़कर जाने में तो आपकी भावुकता ही भासित होती है; इसलिए हे स्वामिन्! इतना कहना चाहती हूँ कि यदि हमारी भावुकता या जल्दबाजी के कारण हमारे आचरण में किंचित् भी शिथिलता या मलिनता आई तो यह परम पवित्र जिनशासन कलंकित हो सकता है; अत: आप हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए एक बार पुन: आत्मावलोकन करें।'

तब कुमार बोले – 'हे गम्भीर चित्ते! तुम्हारे गम्भीरतापूर्ण विचार प्रशंसनीय हैं परन्तु भावुकता की क्या पहचान है? जिनके पास आत्मप्रतीति है, तत्वश्रद्धान है, जो विभावों का त्याग करने के प्रति सजग हैं, वे भावुक नहीं होते।

ध्यान रखो, भावुकता का सम्बन्ध देह अथवा उम्र से नहीं

है। एक आठ वर्ष का बालक यदि आत्मानुभवी है, आत्मज्ञानी है तो वह भी गम्भीर है, भावुक नहीं है और यदि साठ वर्ष का व्यक्ति भी तत्त्वज्ञानी नहीं है तो वह भी भावुक हो सकता है।'

तब रूपश्री तुनककर अन्य रानियों से बोली – 'तुम लोगों को क्या हो गया है? क्या तुमने तत्त्वचर्चा करने के लिए ही विवाह किया है?'

यह कहते-कहते उसकी आँखों में आँसू भर आये, वह पुन: बोली – 'जरा स्वामी को दृष्टि उठाकर हमारे आकर्षक सौन्दर्य को देखने तो दो। सब विराग की बातें भूल जायेंगे।'

रूपश्री आकुलित स्वर में काँपती-सी सह पत्नियों से बोल रही थी – 'अरे रे! धिक्कार है तुम्हारे पत्नीत्व को! क्या तुम वैराग्य की बातें करके स्वामी को मुनि दीक्षा लेने का आमन्त्रण नहीं दे रहीं हो? अरे! क्या पति को अपनी ओर आकर्षित करना इतना कठिन है? नहीं, नहीं, हम उन्हें राजी कर लेंगे।'

रूपश्री ने पतिदेव से कहा – 'हे स्वामिन्! अब वैराग्य की बातें छोड़ो, अभी आप हमारे प्राणाधार हैं। हम अभी आपको वन में नहीं जाने देंगे, दीक्षा नहीं लेने देंगे। प्राणनाथ! आप अभी दीक्षा लेने का विचार चित्त से निकाल कर हमें उपकृत कीजिए।'

रूपश्री, जम्बूकुमार के संसार से विरक्त चित्त को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तथा जीवनपर्यन्त अपने दाम्पत्य जीवन को सुखद बनाये रखने के लिए अपनी बुद्धि के अनुसार नाना प्रकार से अश्लील चेष्टायें करती है तथा अपने यौवनजनित मांसल गुप्त अङ्गोपाङ्गों के सौन्दर्य को प्रदर्शित करते हुए कुमार के मन को मोहित और कामुक करने की चेष्टायें करती हैं परन्तु

वैराग्यरस से भरे कुमार अपने सङ्कल्प से टस से मस नहीं होते।

जिन अंगों की उपमा कवि कंचन कलशों से देते हैं, वे विरक्त चित्त जम्बूकुमार को माँस के लोथड़े नजर आते हैं। भला उन्हें अपने पक्के इरादे से कोई कैसे डिगा सकता है?

जम्बूकुमार को इस प्रकार संसार के क्षणिक सुखाभासों से विरक्त देखकर दीर्घ श्वांस छोड़ती हुई और नकली हंसी हंसती हुई लज्जा को ताक में रखकर तीखे व्यंग बाणों से कुमार के हृदय को भेदने के लक्ष्य से कनकश्री अपनी सह पत्नियों से बोली – 'ये अपने तिरछी निगाहों के नुकीले बाण और अंग प्रदर्शन की चेष्टाओं के मदन बाण व्यर्थ ही खो रही हो।

अरे! जिस तरह अंधे पुरुषों को नृत्य कला निरर्थक है और बहरों को सङ्गीत सुनाना व्यर्थ है, वैसे ही जम्बूकुमार पर इन कामुक हाव-भावों का कुछ भी प्रभाव पड़नेवाला नहीं है।

ये जम्बूकुमार निपट भोले हैं, आठ-दस वर्ष के बालक जैसी अपरिपक्व बुद्धिवाले ना समझ हैं। इनके आगे कुछ भी हरकत करना या कहना भैंस के आगे बीन बजाने जैसा है।'

पद्मश्री बोली – 'अरे! ऐसा कुछ नहीं है। कुमार सब समझते हैं परन्तु इन्होंने सुन रखा है कि मोक्षसुख ही एकमात्र निराकुल सुख है, सच्चा सुख है। बस, इस कारण ये उसके पीछे पड़कर अप्सराओं जैसी पत्नियाँ एवं स्वर्ग जैसे सुखों की उपेक्षा कर रहे हैं। कहते हैं, तत्पश्चरण का फल मोक्ष है; इसलिए मुनिधर्म अङ्गीकार करूँगा। जबकि यह भी पता नहीं कि मोक्ष होता भी है या नहीं?'

ऐसे लोगों पर यह कहावत चरितार्थ होती है कि 'एक छोड़ दो को जो धावै, दो में से एक हू न पावै', इस लोक में ऐसी सम्पत्ति, ऐसे आज्ञाकारी सेवक, सब तरह के ठाट-बाट जो देवताओं को भी दुर्लभ हैं, उन्हें छोड़कर दीक्षा लेने में क्या समझदारी है ? – कुछ समझ में नहीं आता।'

पत्नियों की इस प्रकार की चर्चा सुनकर जम्बूकुमार ने सोचा – 'ये चारों पत्नियाँ यद्यपि मेरे गुणों से, योग्यता से और सभी प्रकार की सामर्थ्य से पूर्ण प्रभावित हैं, तथापि अप्रत्यक्ष रूप से मुझे कामुक बनाने या मेरी वासनायें जगाने या मुझे उत्तेजित करने की भावना से मुझे अँधा, बहरा एवं भोला कह रही हैं तथा कंचन कामनियों में स्वर्ग और मोक्षसुख दिखाकर इसी में रिझाने के लिए प्रयास कर रही हैं; अत: प्रत्युत्तर में मुझे इन्हें यथार्थता का ज्ञान करा देना ही चाहिए।'

– ऐसा सोचकर जम्बूकुमार ने कहा – 'हे मृगनयने! तुम कुछ भी कहो! कैसी भी कामोत्तेजक बात करके कामवासना हेतु उकसाने की कोशिश करो। मैं विषयासक्त होकर, कामदेव के वशीभूत होकर इस संसाररूप दु:खद महासागर में पड़कर अपनी अमूल्य मनुष्य पर्याय बर्बाद नहीं करूँगा।

हे भावनी! रति सुखाभ्यास के लोभ में मैं उस भ्रमर के समान विनाश को प्राप्त नहीं होऊँगा, जो गन्ध के लोभ में कमल पाँखुड़ियों में बन्द होकर अपने प्राण दे देता है।'

कुमार पुन: बोले – 'हे विह्वल चित्ते! तुम्हारी बातों से तुम्हारे तीव्र मोह का उदय भासित होता है। तुम्हें आनन्दमयी आत्मा की बात नहीं सुहाती, जबकि ऐसी ही चर्चा रत्नत्रय का कारण है।'

तुम जरा सोचो – 'यह भव तुम्हें भव बढ़ाने के लिए मिला है या अनन्त भवों का अभाव करने के लिए मिला है ? जहाँ तक विषय-भोगों की बात है, सो इन्हें हमने कब नहीं भोगा ? अरे ! पापी से पापी प्राणी भी जिसे भोगने के बाद पछताते हैं। अपने को निंद्य अनुभव करते हैं – ऐसे पंचेन्द्रिय के भोगों की कल्पना में तुम अनुरक्त हो !'

तब विरक्त-चित्त से तीनों रानियाँ बोलीं – 'नहीं स्वामिन् ! नहीं, हमसे ये दु:ख तो नहीं सहे जायेंगे पर..... ।'

अपने पक्ष को आगम के उदाहरणों से पुष्ट करते हुए रूपश्री बोली – 'हे नाथ ! क्षमा करें, मेरा अभिप्राय आपको ठेस पहुँचाने का नहीं है, लेकिन एक बात मैं अवश्य पूछना चाहती हूँ कि तीर्थङ्कर एवं चक्रवर्ती आदि ने भी तो विवाह किये थे, उन्होंने भी तो गृहस्थाश्रम में रहकर आत्महित किया था; उसी प्रकार यदि हम भी गृहस्थधर्म अपनाकर आत्महित करें तो क्या यह अनुचित है ?'

कुमार बोले – 'हे नम्रचित्ते ! अपने परिणामों की बात वे ही अनुभव कर सकते हैं, जिन्होंने अपने परिणामों के योग्य कार्य किया, लेकिन मेरा मन इस विषयभोगों को स्वीकार नहीं कर पा रहा है। मुझसे अब विलम्ब सहा नहीं जाता है। मैं तो शीघ्र ही शाश्वत् सुख को प्राप्त करना चाहता हूँ।'

तब विनयश्री बोली – 'हे नीतिज्ञ पुरुष ! आज ही तो आपने हम सबके साथ परमेष्ठी की साक्षी में पाणिग्रहण किया है, वहाँ आपने जीवनपर्यन्त हमारे संरक्षण एवं भरण-पोषण का वचन हमको दिया है। अत: हे स्वामिन् ! आपका यह कर्तव्य है कि

आप माता-पिता की सेवा करते हुए एवं हमारा संरक्षण करते हुए गृहस्थधर्म का पालन करें तथा साथ में आत्महित भी करें।

यदि आप इतने जल्दी सप्तपदी में दिये गये वचनों का उल्लंघन करेंगे तो लोग आपके बारे में क्या सोचेंगे? और क्या हम चारों इतने अभागी हैं कि हम एक दिन को भी आपके प्रेम के पात्र भी न बन सकें? क्या आपका हमारे प्रति किंचित् भी कर्तव्य नहीं है? हे स्वामिन्! कृपया हमारी ओर देखिए एवं गम्भीरतापूर्वक विचार कीजिए। आप तो चरमशरीरी हैं, किन्तु हमें तो इस भव से मुक्ति नहीं है।'

आँखों में आँसू भरकर वह बोली – 'हे नाथ! अब आप ही बताइये कि हम क्या करें?'

जम्बूकुमार बोले – 'हे भद्रे! जब मैंने तुम्हें सप्तपदी में सात वचन दिये थे, तब उन वचनों में इतना आशय तो अनुक्त रूप से गर्भित ही था कि – **मुनिदीक्षा अथवा समाधिमरण के परिणाम उत्पन्न नहीं होने तक मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। अब मेरे जैनेश्वरी दीक्षा धारण करने के परिणाम हो गये हैं; अतः उन वचनों के अनुसार भी अब मैं तुम्हें दिए वचनों से मुक्त हूँ** और लोक-नीति एवं आगम की मर्यादा का भी मैंने उल्लंघन नहीं किया है क्योंकि ये संकल्प सशर्त ही होते हैं तथा अपने कर्तव्य से भी मैं भलीभाँति परिचित हूँ। लोक में आत्महित से बढ़कर और कोई कर्तव्य नहीं है।'

तब अत्यन्त विनम्रतापूर्वक विनयश्री बोली – 'हे नाथ! आपका कहना सही है, परन्तु यदि हम कुछ दिन भाई-बहन

जैसे पवित्र प्रेम के साथ रहकर आत्महित करें, तब तो आपको आपत्ति नहीं होनी चाहिए।'

जम्बूकुमार बोले – 'हे आर्ये! निश्चित ही तुम्हारे परिणाम अध्यात्मरस में भीगे हैं, इससे पता चलता है कि – तुम्हें आत्महित की तीव्र अभिलाषा है। तुम्हारे ये मंगलमयी परिणाम फलीभूत हों परन्तु घर में रहकर यह सब धर्म साधन की बात करना तो राग पुष्टि का बहाना खोजना है।

तुम ऐसा अन्याय मेरे साथ क्यों कर रही हो, तुम तो पत्नी हो, तुम्हें तो पति को पतन से बचाकर पति के उत्थान एवं हित की रक्षा करना चाहिए। तुम्हीं कहो, मैं जितने काल तक गृहस्थ जीवन में रहूँगा, उतने काल तक मैं प्रचुर स्व-संवेदन से वंचित रहूँगा या नहीं ? प्रत्येक क्षण होनेवाली असंख्यात गुणी निर्जरा से भी मैं वंचित रहूँगा या नहीं ? आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के निराबाध सुख से मैं वंचित रहूँगा या नहीं ?

क्या तुम मुझे उदास व घुटता हुआ देख सकोगी ? क्या तुम मुझे मेरा आत्मिक इन्द्रियातीत आनन्द दे सकोगी ? क्या तुम मुझे क्षण-क्षण में गृहस्थी की आकुलता-व्याकुलता में झुलसता हुआ देख सकोगी ?'

उत्तर में चारों पत्नियाँ एक साथ बोलीं – 'नहीं, कदापि नहीं नाथ! हम आपको आत्मसन्मुख होने में बाधक बनकर तो जीवित रहने की भी कल्पना नहीं कर सकते हैं।'

रूपश्री बोली – 'आप तो हमारे प्राणाधार हो, हमारे प्राणों की रक्षा कीजिए, हम आपके बिना जीवित नहीं रह सकेंगीं।

हमने आजीवन आपकी ही शरण ग्रहण कर आपके चरणारविन्द में ही रहने की प्रतिज्ञा की है। हे स्वामिन्! हम पर अनुग्रह कीजिए।'

जम्बूकुमार बोले – 'इतना तो तुम जानती ही हो कि – समस्त द्रव्य स्वतन्त्र हैं, किसी भी द्रव्य को किसी अन्य द्रव्य की आधीनता या अपेक्षा ही नहीं है, ऐसी स्थिति में क्या ये पराधीनता के विकल्प झूठे नहीं हैं ?

हे भद्रे! क्या तुम्हें ये स्त्री पर्याय के दु:ख अच्छे लगते हैं ? जब तुमने जिनशासन पाया, मङ्गलमयी वीतरागी वाणी पाई, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पाये, साक्षात् गुरुओं का समागम पाया और ऐसे उत्तम संस्कार पाये, फिर भी तुम्हें ये पराधीनता मिटाने का भाव नहीं आता है ? अब तो स्वाधीनता का अनुभव करो और निरपेक्ष होकर आत्मा का अनुभव करके इस स्त्रीपर्याय को छेदकर मुनि दीक्षा के योग्य पुरुष पर्याय प्राप्त कर मुनिधर्म धारण करके सिद्धालय में वास करने का पुरुषार्थ करो।'

बात काटते हुए कनकश्री बोली – 'परन्तु स्वामिन्! हमको व्रतों का अभ्यास करने के लिए भी तो कुछ समय दीजिए।'

जम्बूकुमार ने कहा – 'जब तीव्र वैराग्य के परिणाम हों तो व्रतादि का अभ्यास तो स्वत: हो जाता है। पृथक् से अभ्यास की किंचित् भी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए असार संसार का स्वरूप समझकर स्वरूप में सावधान हो जाओ, यही मोक्षमार्ग का अभ्यास है।'

इस प्रकार परस्पर संवाद करते हुए आधी रात कब/कैसे

बीत गई, पता ही नहीं चला। फिर भी राग और विराग के बीच बातचीत का लम्बा सिलसिला चलता ही रहा।

❖ ❖ ❖

जम्बूकुमार और चारों वधुओं में परस्पर बातें हो रही थीं, उसी समय माताजी, पुत्र और वधुओं के अनुराग में आकुलित हो आँखों में आँसू भरे कुमार के शयन कक्ष के बाहर यहाँ-वहाँ घूम रही थीं, घूमते हुए भावुकतावश आँचल में अपना मुँह ढककर जोर-जोर से रो पड़ीं और फिर विह्वल स्वर में परोक्ष में ही प्रलाप करती हुई जोर से बोलीं - 'हे कुमार! तुम इतने कठोर क्यों हो गये हो? कुछ समय के लिए तो इन वधुओं की ओर देखो! क्या तुम हम लोगों को दु:खी करके प्रसन्न रह सकोगे? क्या तुम्हारा ये कर्तव्य नहीं है कि यथायोग्य रीति से गृहस्थ-धर्म को पालते हुए हम सबका संरक्षण करो? और अन्त में हमारा समाधिमरण सम्पन्न कराओ। हे पुत्र! हमारी इस जर्जर देह की ओर देखो और सन्निकट आती हुई मृत्यु की ओर देखो, हमें स्थितिकरण कराने में तुम ही समर्थ हो, अत: कुछ दिन तो रुको।'

माता का रुदन सुनकर जम्बूकुमार एवं चारों वधुयें दौड़ी-दौड़ी बाहर आईं और जम्बूकुमार बोले - 'हे माँ! आप इतनी दु:खी क्यों हो रही हो? आप तो शास्त्राभ्यासी हो। धैर्य धारण करो! शान्त चित्त से सोचो! संसार में विषय-कषायों में रचे-पचे रहनेवाले कितने सुखी हैं? यदि संसार में सुख होता तो शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ व अरनाथ तीर्थङ्कर तो तीन-तीन पदवियों के धारक थे, उन्होंने दीक्षा क्यों ली?

उपसर्गजयी मुनिराज सुकुमाल के पिताजी, सुकुमाल का जन्म होते ही तत्काल दीक्षित क्यों हो गये थे? क्या उनका कर्तव्य नहीं था कि बालक को बड़ा हो जाने तक घर में रहते?

आपके कुटुम्बीजन तो आपके साथ हैं हीं। घर में धन-धान्य की भी कमी नहीं है तथा जिनमन्दिर भी समीप में ही है, जहाँ पर निरन्तर गुरुओं का समागम उपलब्ध रहता है, जहाँ नित्य प्रति तत्त्वचर्चा हुआ करती है। आप बिल्कुल व्यथित न होओ और आत्महित में सावधान हो जाओ - यही मात्र हम सबका कर्तव्य है।'

अन्त में माता ने जम्बूकुमार के सामने एक समस्या यह रखी कि 'बेटा! तुम्हारे चले जाने से हमारी कुल-परम्परा का क्या होगा? तुम्हारे दीक्षित होते ही यह कुल समाप्त ही हो जायेगा?'

जम्बूकुमार मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए एवं माँ को समझाते हुए बोले - 'हे माँ! आपको ऐसा राग होना स्वाभाविक ही है, माता को अपने पुत्र से बहुत-सी आशायें होती हैं परन्तु हे माँ! आप ही सोचो - महावीर प्रभु अपने माता-पिता के इकलौते बेटे थे या नहीं? क्या जिनशासन के माध्यम से उनका नाम पंचम काल के अन्त तक नहीं चलेगा? भगवान वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ भी बालब्रह्मचारी रहे तो क्या उनका नाम इस पृथ्वीतल पर जीवित नहीं है?

सच पूछो तो आत्मशान्ति में डूबे हुए जीवों को कुल की परवाह ही नहीं होती, इसलिए हे माँ! आप कुल की एवं पीढ़ी की बात कहकर मुझे मुनिव्रत लेने से रोको मत, मुझे आशीर्वाद

दो कि आपके कोंख से जन्मा आपका पुत्र शीघ्र ही परमेष्ठी पद को प्राप्त करे।'

❖ ❖ ❖

शादी के बाद प्रथम मिलन में ही जब जम्बूकुमार एवं उसकी चारों पत्नियाँ प्रेमालाप और पाँचों इन्द्रियों के विषय सम्बन्धी वार्ता को भूलकर तत्वचर्चा कर रहे थे, तभी राजकुमार विद्युच्चर ने चौर्यकला मात्र में कुशलता एवं सफलता पाने की नियत से सेठ अर्हद्दास के महल में प्रवेश किया। वहाँ जम्बूकुमार एवं वधुओं को अर्द्धरात्रि में भी जागते हुए एवं धार्मिक वार्तालाप करते देखा तो कौतूहलवश उनकी वार्ता सुनने वह किवाड़ों के पीछे छिपकर बैठ गया और सुनने लगा – 'यह कैसा आश्चर्य? जगतजन तो प्रथम मिलन में प्रेमालाप करते हैं। इस जम्बूकुमार को यह क्या हो गया? जो भोग के समय योग की चर्चा कर रहा है। राग के बदले वीतरागता की वार्ताएँ हो रही हैं। ये राज्य-वैभव, ये चार-चार सुन्दर देवांगनाओं जैसी पत्नियाँ, उनकी हाव-भाव पूर्ण चेष्टाएँ भी इसे अपनी ओर नहीं खींच पा रही हैं। इसका क्या कारण है?'

ऐसे जिज्ञासाभाव से वह वहाँ बैठे-बैठे उनकी बातें सुनने लगा।

फिर वह अपने को धिक्कारता है – 'अरे! जिसके पास न्याय-नीति से उपार्जित धन-सम्पदा एवं भोग उपलब्ध हैं, वह तो उसकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देख रहा और मैं परधन को लूटने की कला में निपुण होना चाहता हूँ, चोर बनना चाहता हूँ, जबकि मेरे पास भी धन की कोई कमी नहीं है। मुझे धिक्कार

है। आज से मैं भी इस चौर्य कर्म को सदा के लिए छोड़ता हूँ।'

ऐसे विचारों में मग्न जब विद्युच्चर, जम्बूकुमार के कक्ष की खिड़की के किवाड़ों के पीछे बैठा था। तभी जम्बूकुमार की माँ जिनमती जो शयन कक्ष से बाहर घूम रही थी। वह देखती है कि यहाँ कोई व्यक्ति बैठा है। उसे देखते ही वह उसके पास पहुँचती है। विद्युच्चर ने तत्काल उठकर माता जिनमति के चरणों में प्रणाम किया और बोला – 'हे माँ! मैं विद्युच्चर हूँ, मैं चारी करने के विचार से आपके यहाँ आया था, मगर जम्बूकुमार एवं वधुओं की तथा उनकी आपकी चर्चा सुनकर अब मैंने चोरी करने का विचार छोड़ दिया है। अब तो मेरी भावना मात्र इतनी ही है कि एक बार आप मुझे जम्बूकुमार से मिला दीजिए। मैं आपकी भावना के अनुसार कुमार से मिलकर उन्हें कुछ समय तक और गृहस्थधर्म में रखने में सफल हो जाऊँगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मैं उन्हें समझाकर घर में रहने को तैयार कर लूँगा।'

'अंधा क्या चाहे, दो आँखें' की नीति के अनुसार माँ अपनी मुराद पूरी होती जान विद्युच्चर को जम्बू से मिलाने को राजी हो गईं।

माता जिनमति तो यही चाहती थी कि किसी भी प्रकार से पुत्र घर में रह जाये। एतदर्थ उन्होंने एकक्षण रुककर सोचा कि – विद्युच्चर को कुमार से कैसे मिलाया जाए? सोचते-विचारते उनहें उपाय सूझा और माँ ने तुरन्त जम्बूकुमार के पास जाकर कहा – 'हे पुत्र! तुम्हारे मामा, जो कि बहुत दिनों से परदेश गए हुए थे, आज वे आये हुए हैं और तुमसे मिलना चाहते हैं।'

मुक्तिकान्ता के अभिलाषी जम्बूकुमार उदासचित्त से मामा

विद्युच्चर के पास पहुँचे और बोले – 'हे मातुल! प्रणाम।'

तभी छद्म मामा के रूप में विद्युच्चर ने अत्यन्त स्नेहमयी दृष्टि डालते हुए एवं कुमार को हृदय से लगाते हुए कहा – 'तुम साक्षात् कामदेव के अवतार हो, अपने वचनामृत से सज्जनों के कानों को तृप्त करनेवाले हो, परम विवेकी हो, तुम्हारा सौष्ठव शरीर, तुम्हारा पराक्रम प्रशंसनीय है। तुम्हारे गुणों का कहाँ तक कथन किया जाए?'

मैंने तुम्हारी माँ और मेरी बहिन जिनमती से सबकुछ सुन लिया है। तुम बचपन से बलवान और बुद्धिमान हो। धर्म के प्रति तुम्हारी लगन अद्भुत है, तुम संसार से विरक्त चित्त हो। तुम्हें देखकर बहिन जिनमती का कहना अक्षरश: सत्य भासित हो रहा है।

तुम सचमुच सौभाग्यशाली हो। तुम जैसे सांसारिक सुख अन्य किसी को भी मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। जगत में जो पुण्यवान भी हैं, उनके पास भी तुम जैसा अखण्ड पुण्य नहीं है। अधिकांश तो ऐसे खण्डित पुण्यवाले होते हैं कि जिन्हें सर्व प्रकार की अनुकूलता एक साथ नहीं मिलती।

ऐसे लोगों के बारे में ही मानो यह कहावत प्रचलित है कि 'जब दाँत थे तो चबाने को चने तक नहीं मिले और जब नाना प्रकार के बहुमूल्य भोज्य पदार्थ उपलब्ध हुए तब खाने के लिए दाँत नहीं रहे।' तुम जैसी सर्व प्रकार की अनुकूलता तुम्हारे सिवाय अन्य किसी के भाग्य में नहीं है। अत: प्राप्त भोगों और अनुकूल संयोगों को मत ठुकराओ!

अरे! जिन्हें वर्तमान में ही स्वर्गों जैसे सब सुख प्राप्त हैं, वे

भविष्य की आशा से तप द्वारा क्लेश करके भविष्य के काल्पनिक स्वर्ग-मोक्ष सुख पाने की भूल नहीं करते हैं। तुम भी सोचो! कायक्लेश करके अभी से शरीर को मत सुखाओ!

तुम्हारे प्रति विशेष अनुरागवश तुम्हारे कारण पूरा परिवार दु:खी है। तुम्हारे कारण ही तुम्हारी वे पत्नियाँ, जिन्होंने तुम्हारे लिए अपना सर्वस्व समर्पण किया है, जो तुम्हारे प्रेम की प्यासी है, तुम्हें अपना जीवनाधार समझे बैठीं हैं। वह माँ, जिसने नौ माह पेट में रखा, अठारह माह गोद में रखकर पाला-पोसा है, वह तुम्हारे स्नेह में पागल हुई जा रही है। अत: घर में ही रह कर धर्म साधन करो।'

इस प्रकार विद्युच्चर ने माँ जिनमती के मोह से भरी भावनाओं की पूर्ति करने के लिए जम्बूकुमार को दीक्षा से रोकने हेतु विषयसुख की महिमा मण्डित करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी।

जम्बूकुमार की धार्मिक रुचि को ध्यान में रखते हुए आगे कहा कि – 'हे कुमार! हे बेटे! आपने श्री वीरप्रभु की दिव्यदेशना तो सुनी ही है। उसमें दो प्रकार के धर्म का वर्णन आया है। एक गृहस्थधर्म और दूसरा मुनिधर्म, तुम पहले गृहस्थधर्म का पालन करो। मुनिधर्म तो बहुत कठोर है, उसे पालना सरल नहीं है और फिर अभी तुम्हारी इतनी लघुवय है, कोमल शरीर है, तुम अभी से इतना कठोर कदम क्यों उठाते हो? अभी तो खेलने-खाने के दिन हैं। प्रौढ़ होने पर धर्म धारण करना, फिर आपको कोई मना नहीं करेगा।'

तब जम्बूकुमार अत्यन्त मृदु शब्दों में बोले – ''हे मातुल!

व्यक्ति अनादि काल से पाप प्रवृत्ति में पड़ा होने से स्वभावत: ही पापी है, ऊपर से ऐसा ही उपदेश मिल जाय, तब तो 'गुरवेल और नीमचढ़ी' कहावत चरितार्थ हो जायेगी। गुरबेल जो खरी स्वाद से कड़वी, फिर नीम पर चढ़ी तब तो पूछना ही क्या है? अत: पापोदेश मत दो।

देखो, पापोपदेश देकर संसार मार्ग में लगाने वाले तो गली-गली में मिल जाते हैं। इसके विपरीत धर्मोपदेश देकर दु:खद संसार सागर में डूबने से बचानेवाले बड़े भाग्य से यदा-कदा ही दिखाई देते हैं। जो स्वयं धर्माचरण करे तथा दूसरों को धर्ममार्ग में लगायें – ऐसे व्यक्तियों का मिलना असम्भव नहीं तो दुर्लभ तो है ही। अत: धर्ममार्ग में लगाने की बात करो।

हे मामा! आप बहुत दिनों बाद मुझसे मिले हो और वह भी ऐसे प्रसङ्ग में, इसलिए मेरे ऊपर आपका अत्यन्त स्नेह होना स्वाभाविक ही है परन्तु हे मातुल! आप भी जिनदेशना के जानकार हैं। यह भी आप जानते ही होंगे कि **मार्ग तो एक ही प्रकार का है; संसारी जीवों की दशा को देखकर उसका निरूपण दो प्रकार से किया गया है। जिनके परिणाम अभी स्थिर होने में असमर्थ हैं और जो विषय-भोगों में रचे-पचे हैं; उन जीवों को आत्महित के साधन के लिए अणुव्रत आदि का उपदेश दिया गया है।**

मैं तो पिछले दो भवों से मुनि होता रहा हूँ, इस कारण मेरे लिए मुनिव्रत कठिन नहीं है तथा मैं चरमशरीरी हूँ, मेरे तो इस भव में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होना ही है, फिर क्यों न मैं पंचेन्द्रिय के विशयों से विरक्त होकर मुनिव्रत धारण करूँ? जो सकल-

संयम की साधना करते हैं, उनकी बुद्धि भोगों में किञ्चित्मात्र भी रमती नहीं है।''

इस प्रकार धार्मिक बातचीत में ही पूरी रात व्यतीत हो गई। फलस्वरूप चारों वधुएँ भी आत्महितकारक चर्चा से ऐसी प्रभावित एवं लाभान्वित हुईं कि वे चारों ही भोगों से विरक्त हो गईं। अब वे भी गृहस्थावस्था की कीचड़ में नहीं फँसना चाहती हैं। उन्होंने भी आर्यिका के व्रत लेकर आत्महित करने का निश्चय कर लिया।

धन्य हैं वे वैरागी जम्बूकुमार! जिनके सत्संग से एवं चर्चा से चारों वधुयें तो वीतरागता के रंग से सराबोर हो ही गईं, विद्युच्चर ने भी अपने चौर्यकर्म एवं विषय-कषाय से विरक्त होकर जम्बूस्वामी के साथ मुनिदीक्षा लेने का सङ्कल्प कर लिया।

चारों वधुओं ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की - 'हे स्वामिन्! हमने सात फेरे खाकर आपके अनुगमन की जो प्रतिज्ञा की थी, उसे हम जीवन पर्यन्त निभाना चाहते हैं। हमें भी आज्ञा दीजिए कि हम भी वीरप्रभु की देशना में दर्शाये मार्ग पर चलकर आत्महित को प्राप्त हों।'

जम्बूकुमार ने प्रसन्नचित्त होकर कहा - 'मुझे प्रसन्नता है कि तुम चारों का चित्त भी विषय-भोगों से विरक्त होकर आत्मानुरागी हुआ है, आत्मा में निमग्न होना चाहता है।'

वधुयें माता से बोलीं - 'हे माता! रातभर की तत्त्वचर्चा से हमारा चित्त शान्त हो गया है। हमें वैराग्य का मार्ग मिल गया है। हम किंचित् भी शिथिलता न करते हुए प्रात: काल की मङ्गल बेला में निकटवर्ती उद्यान में विराजमान पूज्य सुप्रभा आर्यिकाजी

के निकट जिनदीक्षा धारण करने की भावना रखती हैं। आप हमें भी सहर्ष अनुमति प्रदान करके कृतार्थ कीजिए। हम चारों आपकी वृद्धावस्था में सेवा नहीं कर सकेंगी, एतदर्थ हम क्षमाप्रार्थी हैं।'

इतना सुनते ही माता विह्वल होकर रोने लगी। वह किसी वधु के माथे पर हाथ फेरती तो किसी वधु के गालों पर हाथ फेरती, किसी वधु को हृदय से चिपकाती तो किसी वधु के कपोलों को चूमती हुई बोली – 'हे वधुओं! कम से कम तुम तो दीक्षा धारण न करो। मैं अब किसके सहारे रहूँगी। कम से कम तुम्हें ही देख-देखकर तुम्हारे ही साथ में तत्त्वचर्चा आदि सत्समागम करते हुए स्थितिकरण को प्राप्त होऊँगी। तुम चारों यहीं रुको।

तब चारों वधुएँ बोलीं – 'हे माँ! आप शोक छोड़कर हमें भवदधि-तारक जिनशासन की शरण में जाने दें।'

❖ ❖ ❖

जम्बूकुमार के लिए मङ्गल प्रभात हुआ। मुनिदीक्षा की भावना भाते हुए माता-पिता व पत्नियों से अनुमति लेते हुए बोले – 'हे मेरे शरीर की जन्मदाता माता! अब मैं अपनी त्रिकाली माता – निजात्मा के पास जाता हूँ। मुझे आज्ञा दो। हे इस शरीर के जनक! अब मैं अपने शाश्वत जनक शुद्धात्मा के पास जाता हूँ। मुझे आज्ञा दो! हे इस शरीर को रमानेवाली रमणियों! अब मैं अपनी त्रिकाली रमणी शुद्धात्मा कारणपरमात्मा के पास जाता हूँ, मुझे आज्ञा दो। मैं अब अपनी आत्मा को प्रचुर स्व-संवेदन से ओत-प्रोत करने हेतु वीतराग पथ पर प्रयाण करना चाहता हूँ।' इस प्रकार कुमार ने आज्ञा लेकर मुनिधर्म अङ्गीकार करने के पूर्व की औपचारिकतायें पूरी कीं।

कुमार के मुख को देखते हुए पिताजी विचार करते हैं – 'कुमार! तुम्हें धन्य है! तुम्हारा राग अब अनन्त काल के लिए अस्त हो चुका है। लेकिन हे पुत्र! ठहरिये, थोड़ी देर ठहरिये; अब हम तुम्हें रोकते नहीं हैं परन्तु यथायोग्य विधि के साथ राजा सहित सम्पूर्ण नगरवासी तुम्हारे साथ गुरुवर सुधर्माचार्य के पास चलेंगे।'

श्रेष्ठी अर्हद्दास ने धर्मात्मा श्रेणिक राजा के राजमहल में सन्देश भेजा – 'आपका वीर योद्धा जम्बूकुमार अब स्वसंवेदन की ढाल द्वारा कर्मों को परास्त करने और मुक्तिपुरी का राज्य लेने के लिए शीघ्र ही प्रस्थान कर रहा है।'

राजा श्रेणिक इस आकस्मिक समाचार को सुनते ही एकदम स्तब्ध रह गये। वे विचारते हैं – 'राग तो आखिर दु:खदायी ही है, इसलिए जितनी जल्दी टूटे, श्रेष्ठ ही है। अब जम्बूकुमार के वीतरागी भावों की हमें भी हर्षपूर्वक अनुमोदना करना चाहिए।'

राजा ने शीघ्र ही पूरे नगर में कुमार के वन-गमन की भेरी बजवा दी। भेरी का मङ्गल नाद सुनते ही सभी राजगृही नगरी के नगरवासी राजमहल में एकत्रित हुए। पश्चात् श्रेणिक महाराज हाथी पर बैठकर गाजों-बाजों की मधुर ध्वनियों सहित सभी जनों के साथ श्रेष्ठी अर्हद्दास के आँगन में पधारे। वे देखते हैं कि कुमार, मोह-सेना को परास्त करने के लिए कमर कस के तैयार हैं। श्रेणिक ने प्रथम तो वैरागी कुमार की हाथ जोड़कर वन्दना की और फिर वे निर्निमेष कुमार के मुख को देखने लगे। 'धन्य हैं कुमार! आपकी जीत नि:सन्देह है।'

राजा ने वैरागी कुमार को अपनी भावना पूर्ण करने हेतु तथा दीक्षा-विधि का निर्वाह करने हेतु चन्दनादि से अङ्गों को चरचा और जैसे इन्द्र सुमेरुपर्वत पर बाल जिनेन्द्र को ले जाता है, उसी तरह राजा भी जम्बूकुमार को दीक्षावन में ले गये। राजा एवं पिता आदि हाथ जोड़कर कुमार के सन्मुख खड़े थे।

तभी कुमार ने 'ॐ' का उच्चारण कर गुरुवर सुधर्माचार्य के पास गमन की भावना व्यक्त की। राजा ने कुमार को मनोज्ञ पालकी में पधराया और अपने ही हाथों से पालकी को उठाकर अपने ही कन्धों पर रखकर सदलबल दीक्षा वन के लिये प्रस्थान किया।

उसी समय माता जिनमती बारम्बार पुत्र को गद्‌गद् वचनों से कहती हैं – 'हे पुत्र! कहाँ तो तेरा फूल जैसा कोमल बदन और कहाँ खड्‌ग की धारा के समान तप? तू भूमिशयन कैसे करेगा? हे मेरे हृदय के हार! हे मेरे नयनों के तारे! एक बार तो अपनी माता की ओर देख!'

माता जिनमती, पुत्र एवं वधुओं की आत्महितकारक आनन्ददायक बातों को सुनकर मन को शान्त करती हुई बोली – 'हे दुर्दैव! तूने मुझे पुत्र-विहीन तो किया ही है, परन्तु क्या वधुओं से भी विहीन करेगा?'

कुछ समय बाद अपनी सास को शान्त देख चारों वधुयें बोली – 'हे माँ! हम चारों ने भी आपको अपनी भावना पहले ही बतलाई थी कि हम सब भी वीतरागी पंथ में विचरण करके भव के अन्त को पाकर अनन्त काल तक लोक के अन्त में शाश्वत आत्मिक आनन्द को भोगेंगे।'

माता जिनमती उन्हें समझाते हुए बोलीं – 'अरे बेटियों! तुम भी बारम्बार ऐसा हठ क्यों करती हो? तुम्हारा यह विचार बिल्कुल विवेकपूर्ण नहीं है। तुम्हारा यह सुकुमाल अंग सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास और असहनीय उपसर्ग-परीषहों को कैसे झेलेगा? तुम लोग कभी जमीन पर सोने की बात तो दूर, बैठी भी नहीं हो तो फिर भूमि में कैसे शयन करोगी? कैसे बैठोगी? जेठ मास के मध्याह्न के सूर्य की अति आताप-दायिनी किरणों को ये कोमलांग कैसे सहन कर सकेंगे? नहीं, नहीं बेटियों! तुम सभी इस विचार को छोड़ो।'

वधुएँ बोलीं – 'हे माँ! इस जीव ने अनादि काल से अनन्त अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों को पाया है और अपने निजस्वरूप को भूलकर उनमें हर्ष-विषाद करके दु:ख बढ़ाया है। ये सम्पूर्ण जड़ का ठाट-बाट, ये चक्रवर्ती की छह खण्ड की विभूतियाँ पुण्य-पाप की धधकती प्रचुर ज्वालाएँ हैं, इनमें हम अनन्त बार झुलसे हैं, परन्तु कहीं आत्मिक सुख की परछायी भी नहीं दिखी है। हे माँ! अपने चैतन्य के अक्षय-निधान के शाश्वत् सुख का भोग करने के लिए अब एक समय का भी विलम्ब करना ठीक नहीं है।

आहाहा....! सिद्धप्रभु के समान अतीन्द्रिय आनन्द का किंचित् स्वाद हम अभी भी ले सकती हैं। क्यों न कषायों का शमन करके आत्मा में रमण करें? क्यों न वर्तमान ज्ञान से शाश्वत् ज्ञायक का अवलोकन करें?

हे माँ! आप शोक-संताप तज कर हम सभी को वीतरागी

निर्ग्रन्थ सन्तों के पथ पर अनुगमन करने की स्वीकृति शीघ्र प्रदान कीजिए।'

अन्त में माता जिनमती विचारती हैं – 'बात तो परम सत्य है, इसमें शंका की गुंजाइश ही नहीं। यह परम पवित्र वीतरागी मार्ग शाश्वत् सुख का दाता है। इसलिए मोह का वमन करके अब हम सभी को इसी पथ का अनुसरण करना श्रेष्ठ है।' ऐसी भावना से चारों वधुओं सहित माता जिनमती ने भी संसार के असार और क्षणभंगुर संयोगों से विरक्त होकर दीक्षा हेतु प्रस्थान किया।

जहाँ सुधर्माचार्य विराजमान थे, वहाँ के लिए जम्बूकुमार की वैराग्य यात्रा में राजा, पिता, नगरवासी तो चल ही रहे थे। पीछे-पीछे माता जिनमती एवं चारों वधुएँ चल रही थीं। 'अरे! ये क्या है? क्या इन वृक्षों को भी जम्बूकुमार के वीतरागी पथ का हर्ष हो रहा है? जो फूलों से स्वागत कर रहे हैं।'

पालकी में विराजमान जम्बूकुमार दीक्षावन के निकट आने पर पालकी से उतरकर गुरुपद-पंकज को पाने के लिए पैदल चल देते हैं। गुरु के पास पहुँच कर कहते हैं।

'हे गुरुवर! जैनेश्वरी दीक्षा अङ्गीकार करना चाहता हूँ। कृपया मुझे अपने आचार्यत्व में मुनि दीक्षा देकर अनुगृहीत कीजिए।

सुधर्माचार्य द्वारा शास्त्रोक्त विधि से मुनि दीक्षा देते हुए सर्व प्रथम वस्त्राभूषण उतरवाकर केशों का लोंच कराया गया। उसी समय 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' मन्त्र का उच्चारण करके श्रीगुरु की आज्ञानुसार जम्बूकुमार एवं विद्युच्चर को अट्ठाईस मूलगुणों को

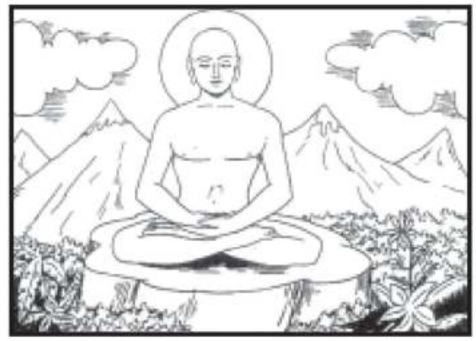

ग्रहण कराया। इस प्रकार जम्बू से जम्बूकुमार और जम्बूकुमार से जम्बूस्वामी हो गये, दिगम्बर मुनि हो गये।

❖ ❖ ❖

विपुलाचल पर्वत पर केवलज्ञान होने के बाद जब जम्बूस्वामी की धर्मसभा (गन्धकुटी) विहार करते हुए मथुरा चौरासी पहुँची और वहाँ अनुबद्ध केवली जम्बूस्वामी का दिव्यध्वनि के रूप में धर्मोपदेश हुआ तो उसे सुनकर आर्यिका माता पद्मश्री के मन में यह शंका हुई कि 'जब पुण्य-पाप, परोपकार, दया-दान, नैतिकता, सदाचार, भक्ति भावना आदि सभी दृष्टियों से कमोवेशरूप में लगभग सभी धर्म समान ही हैं, यहाँ तक कि रात्रि में आहार नहीं करना, पानी छान कर पीना आदि को भी सिद्धान्ततः सभी धर्म स्वीकार करते हैं तो फिर जैनदर्शन अन्य दर्शनों से विशेष क्यों? इसका अस्तित्व भिन्न क्यों?'

दिव्यध्वनि के माध्यम से गणधराचार्य ने समाधान करते हुए बताया कि – अन्य धर्मों से जैनधर्म तीन बातों से विशेष है, पृथक् हैं। प्रथम तो अनेकान्तवाद-स्याद्वाद; दूसरे, प्रत्येक जीवादि छहों द्रव्य अपने आपमें ईश्वर अर्थात् अपना कार्य करने में पूर्ण समर्थ हैं और तीसरे, वस्तु स्वातंत्र्यवाद।

प्रथम अनेकान्त व स्याद्वाद तो प्रमाण एवं नयों के द्वारा वस्तुस्वरूप के जानने एवं कथन की प्रक्रिया है। प्रमाण के द्वारा वस्तु के अनन्त धर्मों को जाना जाता है और स्याद्वाद शैली द्वारा

एक वस्तु के अनेक धर्मों को मुख्य-गौण करके कथन किया जाता है।

दूसरे, जैनदर्शन एवं धर्म के अनुसार जीव, पुद्गल आदि प्रत्येक द्रव्य अपने आप अपने कार्य करने में पूर्ण समर्थ हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने कार्य के कर्ता स्वयं हैं, पृथक् से ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जो सृष्टि का कर्ता-हर्ता एवं धर्ता हो।

तीसरे, वस्तु स्वातंत्र्य का सिद्धान्त। वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को जैनदर्शन के सिवाय अन्य कोई दर्शन स्वीकार नहीं करता; जबकि यह सिद्धान्त जैनदर्शन का प्राण है। इसके बिना तो जैनदर्शन का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है, जैनदर्शन के अस्तित्व की ही कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि - 'जब सब वस्तुएँ अर्थात् लोक के सभी द्रव्यों अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालाणुओं के समूह का नाम ही विश्व है। इन एक-एक द्रव्यों में रहनेवाले अनन्त गुण एवं उनके द्रव्य एवं गुणों की अनन्त-अनन्त पर्यायें सभी पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वावलम्बी है। कोई भी द्रव्य; गुण व पर्याय किसी अन्य के आधीन नहीं है। प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय के अपने-अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभावरूप स्वचतुष्ट हैं, जिनके कारण उनका स्वतन्त्र परिणमन होता है। ऐसी स्थिति में जैनदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त अहिंसा की क्या स्थिति रहेगी?

इसका समाधान जो जम्बूस्वामी की दिव्यध्वनि में इस प्रकार

आया – 'हे भद्रे! तुम्हारा प्रश्न अत्यन्त गम्भीर है, सबके लिए समझने योग्य है।

सुनो! वस्तुतः इसके समाधान हेतु सर्व प्रथम अहिंसा का वास्तविक स्वरूप समझना होगा। अहिंसा के सम्बन्ध में मूल में भूल यह होती है कि लौकिकजन परजीवों के मरने/मारने को ही हिंसा और परजीवों को बचाने को ही अहिंसा समझते हैं, जबकि हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध परजीवों के मरने/न मरने से है ही नहीं।

जैनदर्शन के अनुसार तो प्रमाद (चार कषायें, चार विकथायें, पाँचों इन्द्रियों के विषय निद्रा व स्नेह) के योग से आत्मा में रागादिक भावों की उत्पत्ति होना ही वास्तविक हिंसा है और इनके अभाव में आत्मा में रागादिक की उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है।

इस प्रकार हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध निज आत्मा से है, पर से हिंसा-अहिंसा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

यद्यपि वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त के अनुसार कोई भी द्रव्य, गुण या पर्याय किसी अन्य द्रव्य एवं उनके गुण-पर्यायों में कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता, तथापि दो द्रव्यों, गुणों व पर्यायों के परिणमन में परस्पर मात्र घना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है; कर्ता-कर्म सम्बन्ध दो द्रव्यों में कभी होता ही नहीं है क्योंकि दो द्रव्यों के बीच में अत्यन्ताभाव की बज्र की दीवाल खड़ी है। दो द्रव्यों को एवं निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को यथार्थरूप से समझनेवाले के मन में ऐसा प्रश्न ही पैदा नहीं होता। एतदर्थ इसके समाधान हेतु उक्त दोनों प्रकरण ज्ञातव्य हैं।

सर्वज्ञता के आधार पर आगम भी इसी बात का समर्थन करता है।

आर्यिका माताजी के मन में पुन: प्रश्न पैदा हुआ – छहों द्रव्यों की स्वतन्त्रता में अहिंसा तथा पाँच पाप, चार कषाय, सात व्यसन आदि सेवन न करने का उपदेश निरर्थक नहीं हो जायेगा?

दिव्यध्वनि में गणधर द्वारा यह समाधान आया कि – जो जीव, हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध परजीवों के मरने या मारने से जोड़ते हैं, उन्हें ऐसी शंका होती है, जबकि हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध पर से है ही नहीं।

वस्तुत: बात यह है कि जीवघात होने पर भी यदि व्यक्ति का इरादा उसे घात करने का नहीं हो तो उसे हिंसक नहीं माना जाता। जीवों का मरण तो अनेक कारणों से हो जाता है, होता ही रहता है। जैसे कि – प्राकृतिक प्रलय, तूफान, बाढ़, महामारी, आगजनी, भूकम्प अनेक ऐसी घटनायें होती ही रहती हैं, जिनमें असंख्य मानव, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े और पेड़-पौधे तक का मरण हो जाता है, फिर भी किसी को भी हिंसा का पाप नहीं लगता। उसे हिंसा कहते भी नहीं हैं।

इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति किसी के घात करने की सोचता भी है तथा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए कोई ऐसी योजना बनाता है, जिसमें जीवों के मरने की सम्भावनायें होती हैं; तो भले ही उसके सोच के अनुसार जीवों का घात न हो, उसकी सोची वह हिंसक योजना फेल ही हो जाये, उससे एक भी घात न हो तो भी वह हिंसक योजना बनाने के कारण हिंसक है,

अपराधी है क्योंकि उसने योजना बनाते समय **बन्ध-मोक्ष परिणामनि ही तें कहत सदा ये जिनवाणी** की बात पर ध्यान नहीं दिया। यदि जीवों के परिणामों में प्रमाद एवं मिथ्यात्व भाव है तो उसे बन्ध होता ही है, जीव मरे अथवा न मरे।

वस्तुत: हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध अन्य जीवों के मरने-न मरने से नहीं है, बल्कि स्वयं के अभिप्राय (भावों) से है। यदि स्वयं की भावना (परिणाम) क्रूर है और अभिप्राय जीवों के घात का है तो हम नियम से हिंसक हैं तथा अभिप्राय में क्रूरता और जीवघात की भावना नहीं है तो अन्य जीवों के मरने पर भी हम अहिंसक हैं।

जैसे कि आपरेशन थियेटर में आपरेशन करते-करते मरीज मर जाता है, तो उस मौत के कारण डॉक्टर को हिंसक नहीं माना जाता; क्योंकि हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है। '**प्रमत्त योगात प्राण व्यपरोपणं हिंसा**' सूत्र के अनुसार १५ प्रकार के प्रमाद (चार कषायें, चार विकक्षायें, पाँच इन्द्रियों के विषय, निद्रा व स्नेह) के योग से स्व-पर प्राणों के व्ययरोपण को हिंसा कहा गया है और इनका आत्मा में उत्पन्न न होना ही अहिंसा है। इस सूत्र में 'प्रमत्तयोग' वाक्य का अर्थ भावहिंसा और प्राण 'व्यपरोपण' का अर्थ द्रव्यहिंसा है।

आर्यिका पद्मश्री माताजी ने कहा – 'वस्तु स्वातंत्र्य का अर्थ तो समझ में आ गया कि प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय के परिणमन में स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र स्वकाल एवं स्वभावरूप स्वचतुष्टय हैं, जिनके कारण उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है, और उनके अपने पाँच समवाय हैं, पाँच कारण हैं; जिनसे उनका पर्यायरूप परिणमन होता है।

उन समवायों के नाम हैं – स्वभाव, पुरुषार्थ, होनहार, काललब्धि और निमित्त.... परन्तु इस सन्दर्भ में विचारणीय प्रश्न यह है कि द्रव्य अहिंसा के साथ इस वस्तु स्वातन्त्र्य का समायोजन कैसे हो – यह स्पष्ट करने की कृपा करें।'

उत्तर में गणधराचार्य ने कहा – 'प्राणघातरूप द्रव्यहिंसा तो व्यवहारनय का विषय है; क्योंकि वह निमित्त सापेक्ष हैं और निमित्त अकिंचित्कर होते हैं। वास्तव में तो अन्य जीवों के जीवन–मरण, सुख–दु:ख में भी अन्तरङ्ग निमित्तकारण तो उनके ही आयुकर्म तथा साता–असाता, वेदनीयकर्म हैं और उपादानकारण वे जीव स्वयं हैं। अत: जो ऐसा मानता है कि 'मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं, मैं परजीवों को सुखी–दु:खी करता हूँ; परजीव मुझे सुखी–दु:खी करते हैं – यह मान्यता ही अज्ञान है।[1]

यद्यपि पर के कारण सूक्ष्महिंसा भी नहीं होती, तथापि अपने परिणामों की विशुद्धि के लिए हिंसा के आयतनों से तो बचना ही चाहिए।[2]

इस प्रकार यद्यपि वस्तु स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त की स्वीकृति में अहिंसा के उपदेश में कोई बाधा नहीं आती, किन्तु ध्यान रहे, मारने के भाव की भाँति बचाने का भाव भी शुभराग होने से हिंसा का ही दूसरा प्रकार है। अत: यह भी बन्ध का ही कारण है और मैं दूसरों की रक्षा कर सकता या मार सकता हूँ – यह मान्यता तो मिथ्यात्व है – यह भी नहीं भूलना चाहिए। वस्तु

1. समयसार बंध अधिकार

2. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक–49

स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त स्वीकृत होने पर एक अद्वैत ईश्वर एवं उसके कर्तृत्व का निषेध स्वत: हो जाता है।'

इस प्रकार गन्धकुटी के माध्यम से जैनधर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए केवली जम्बूस्वामी को विपुलाचल से मुक्ति की प्राप्ति हुई।

अन्त में यही मङ्गल भावना है कि भगवान जम्बूस्वामी सबके लिए कल्याण के निमित्त बने, सभी उनके आदर्श चारित्र का अनुसरण करें। ● *(पण्डित रत्नचन्द भारिल्ल, जयपुर)*

बाह्य में वस्त्र, अन्तरङ्ग राग के सूचक

जिसको बाह्य में वस्त्र आदि विद्यमान हैं, उसको अन्तरङ्ग में राग की लालिमा है ही। वस्त्र छोड़ देने पर भी अन्तरङ्ग में राग रहे – ऐसा तो हो सकता है, परन्तु अन्तरङ्ग में राग का अभाव हो और शरीर पर वस्त्र रहे – ऐसा नहीं हो सकता। वस्त्र का धागा भी हो और अन्तरङ्ग में रागभाव न हो – ऐसा नहीं हो सकता। शरीर पर वस्त्र पहने हों और कहे कि 'हम तो मुनि हैं, हमको परिग्रह का राग नहीं है' तो आचार्यदेव कहते हैं कि वह मुनि नहीं, किन्तु पाखण्डी है; उसकी बात मिथ्या है, क्योंकि अन्तरङ्ग में राग छूटने पर बाह्य में वस्त्र भी छूट ही जाते हैं। इस प्रकार हमने अपने अनुभव और आगम की साक्षी से मुनिदशा की बात की है।

(- प्रवचनसार, 220, सद्‌गुरु प्रवचन प्रसाद, दैनिक, 21-4-1951)

10

शूरवीर मुनि भगवन्तों द्वारा आराधित उत्तम आराधना

शूरवीर मुनिराजों का समाधिमरण

समाधिमरण में तत्पर क्षपक मुनि को रत्नत्रय की अखण्ड आराधना में उत्साहित करने के लिए तथा उपसर्ग-परिषहादि से रक्षा करने के लिए अन्य मुनिराज-आचार्य उन्हें वीतराग उपदेशरूपी कवच पहिनाते हैं; उसका अद्भुत भावभीना वर्णन भगवती आराधना के ***'कवच अधिकार'*** *में शिवकोटि आचार्यदेव ने किया है।*

उस भावभीने प्रसङ्ग का वर्णन पढ़ने से ऐसी ऊर्मियाँ जागृत होती हैं, मानों आराधक मुनिवरों का समूह दृष्टि के समक्ष बैठा हो और वे मुनिराज वैराग्य-उपदेश की अखण्ड धारा प्रवाहित कर रहे हों... उन आराधक साधु भगवन्तों के प्रति हृदय नम्रीभूत हो जाता है तथा आराधना के प्रति अचिन्त्य बहुमान और महिमा जागृत होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने प्रवचनों में अनेक बार परम भक्तिसहित इस ***'कवच अधिकार'*** *का उल्लेख करके मुनिवरों की शान्त अनुभूतिरूप अद्भुत दशा का वर्णन किया है, प्रवचनों को सुनते हुए मुमुक्षु रोमाञ्चित*

हो उठते थे और उनकी आराधना तथा आराधक जीवों के प्रति परम भक्तिसहित, आत्मा में भी आराधना की शूरवीरता जाग उठती थी।

*इस '**कवच अधिकार**' में 174 गाथाएँ हैं, उनका सार यहाँ दिया जा रहा है। मुमुक्षु जीव इस विषय के माध्यम से से आत्मिक आराधना की उत्तम प्रेरणा लेकर मुनि भगवन्तों की परम भक्ति करें और उनके साथ अपना कल्याण करें।*

❖ ❖ ❖

हे जीव! वीर पुरुषों ने जो आराधना की है, उसे तू भी उत्साहपूर्वक कर!

समाधिमरण में स्थित मुनिराज को आचार्य उपदेश देते हैं कि हे क्षपक मुनि! अपने चित्त को रत्नत्रय में तथा उत्तम क्षमादि धर्म में सावधानीपूर्वक लगाओ! क्योंकि इस समय आराधना के उत्सव का महान अवसर है। आचार्य के ऐसे उल्लासपूर्ण वचनों से क्षपक मुनि का चित्त प्रसन्न एवं उज्ज्वल होता है।

जिस प्रकार दीर्घकाल से प्यासा मनुष्य, अमृतजल के पान से तृप्त हो जाता है, उसी प्रकार आचार्य के उपदेशामृत के पान द्वारा मुनि का चित्त आह्लादित होता है और वे आचार्य के प्रति नम्रीभूत होकर कहते हैं —

''हे भगवान्! आपका देखा हुआ सम्यग्ज्ञान मैंने शिरोधार्य किया है; अब जैसी आपकी आज्ञा हो, तदनुसार में प्रवर्तन करूँगा। समाधिमरण में मैं किञ्चित् भी शिथिलता नहीं आने दूँगा। जिस प्रकार आपके तथा संघ के प्रसाद से मेरा आत्मा इस संसार-समुद्र से पार हो, आप गुरुजनों की

उज्ज्वल कीर्ति जगत में फैले और मेरे हित के लिए वैयावृत्य में उद्यत सकल संघ का परिश्रम सफल हो; उस प्रकार मैं उज्ज्वल निर्दोष आराधना को ग्रहण करूँगा।''

इस प्रकार उन मुनि भगवन्त ने समाधिमरण हेतु आराधना में अपने परिणाम का उत्साह और परम शूरवीरता गुरु के समक्ष प्रगट की।

''अहा! गणधरादि वीर पुरुषों ने जो आराधना पूर्ण की, परन्तु विषय-कषाय में डूबे हुए कायर पुरुष, जिसका चिन्तवन करने में भी मन से समर्थ नहीं हैं, उस आराधना को मैं आपके प्रसाद से आराधूँगा। हे भगवान! आपके उपदेशरूपी अमृत का आस्वादन करके कोई कायर पुरुष भी क्षुधा-तृषा या मरणादिक भय को प्राप्त नहीं होते तो मैं क्यों भयभीत होऊँ? अर्थात् मैं भी कदापि भयभीत नहीं होऊँगा — यह मेरा निश्चय है।

हे देव! आपके चरणों के अनुग्रहरूप गुण के कारण मेरी आराधना में विघ्न डालने के लिए इन्द्रादिक देव भी समर्थ नहीं हैं तो फिर यह क्षुधा-तृषा-परिश्रम-वातपित्तादि रोग-इन्द्रियविषय या कषाय मेरे ध्यान में क्या बाधा डालेंगे? अर्थात् वे कुछ भी नहीं कर सकते।''

आराधना में शूरवीर ऐसे क्षपक मुनिराज वीरतापूर्वक श्रीगुरु के प्रति कहते हैं —

''कदाचित् मेरुपर्वत अपने स्थान से चलायमान हो जाए या पृथ्वी पलट जाए, तथापि आप जैसे श्रीगुरु के चरण-प्रसाद के कारण मैं कभी विकृति को प्राप्त नहीं होऊँगा, आराधना से नहीं डिगूँगा।''

इस प्रकार समाधिमरण के लिए जागृत ऐसे क्षपक मुनिराज अपनी शक्ति को छिपाये बिना वीरतापूर्वक कर्म को खिपाते हैं तथा समाधिमरण करानेवाले निर्यापक आचार्य भी प्रमाद छोड़कर क्षपक मुनि का ज्ञान जागृत रहे, तदनुसार निरन्तर परम धर्म की आराधना का उपदेश देते हैं।

समाधिमरण में उत्साहित चित्तवाले वे क्षपक मुनि कदाचित् पापकर्म के उदय से क्षुधा-तृषा या वेदनादि की तीव्र पीड़ा द्वारा व्याकुल हो जाएँ, परिणाम में शिथिल हो जाएँ, अन्न-जल का स्मरण करें तो ऐसे समय में करुणानिधान आचार्य स्वयं किञ्चित् भी धैर्य छोड़े बिना उन मुनि की 'सारणा' अर्थात् उनके रत्नत्रय की रक्षा का उपाय करते हैं; जैसे उनके परिणाम उज्ज्वल रहें, चेतना जागृत रहे, तदनुसार उन्हें सम्बोधन करते हैं।

क्षपक की सावधानी की परीक्षा करने के लिए वे बारम्बार उससे पूछते हैं —

'हे आत्मकल्याण के अर्थी! तुम कौन हो? तुम्हारा पद क्या है? तुम कहाँ निवास करते हो? बताओ! हम कौन हैं?'

इस प्रकार पूछने पर उन क्षपकमुनि की चेतना जागृत हो जाती है —

'अरे! मैं तो मुनि हूँ, मैंने पञ्च महाव्रतसहित संन्यास धारण किया है, मैं अचेत होकर अयोग्य आचरण करूँ,

वह मुझे शोभा नहीं देता। ये शिथिल परिणाम छोड़कर, रत्नत्रयधर्म के पालन में मुझे सावधान रहना योग्य है। आचार्य परम उपकार करनेवाले श्रीगुरु हैं, ये मुझे जागृत कर रहे हैं; इसलिए अब सावधान होकर रत्नत्रय के सेवनसहित समाधिमरण करना उचित है।'

इस प्रकार क्षपक की चेतना जागृत देखकर आचार्य भगवान अत्यन्त वात्सल्यभाव से उसकी आराधना की रक्षा हेतु मानो 'कवच' प्रदान करते हैं। कवच अर्थात् बख्तर। जिस प्रकार युद्ध में चाहे जैसे प्रहार से भी कवच द्वारा रक्षा होती है, उसी प्रकार तीव्र वेदना आदि चाहे जैसे परीषहों के बीच भी उल्लसित परिणाम द्वारा साधक के रत्नत्रय की रक्षा हो, उसके लिए आचार्य-महाराज उसे उत्तम वैराग्य से भरपूर आराधना के उपदेशरूपी कवच पहिनाते हैं।

आचार्य के उपदेश द्वारा सावधान होकर वह मुनि विचारता है —

''अरे! महान अनर्थ है कि तीन लोक में दुर्लभ ऐसा नग्न दिगम्बर साधुपना अङ्गीकार करके भी मैं असमय ही अन्न-जल की इच्छा करता हूँ! यह संन्यास का समय तो मुझे सर्व आहार-जल के त्याग का अवसर है। सर्व संघ की साक्षी से मैंने चारों प्रकार के आहार का त्याग किया है। अनन्तानन्त काल में जीव ने कभी सल्लेखना-मरण प्राप्त नहीं किया, इस समय श्रीगुरु के प्रसाद से उसकी प्राप्ति का अवसर आया है। अहा, समस्त विषयानुराग छोड़कर परम वीतरागता का यह अवसर है, इसलिए इस समय मुझे परम

संयम में जागृति द्वारा आत्मकल्याण में सावधान रहना चाहिए।''

इस प्रकार वह साधु जागृत होकर आराधना में उत्साहित होता है। अब, कोई क्षपक साधु क्षुधा-तृषा-रोगादि की तीव्र वेदना से असावधान या शिथिल हो जाए, अयोग्य वचन बोले या रुदन करे तो आचार्य स्नेहपूर्ण आनन्दकारी वचनों द्वारा उसे सावधान करते हैं; स्वयं शिथिलतारहित होकर क्षपक की सावधानी हेतु दृढ़ उपाय करते हैं; उसे कटुवचन नहीं कहते, उसका तिरस्कार नहीं करते, उसे त्रास लगे या वह निरुत्साहित हो जाए — ऐसा कुछ नहीं करते; परन्तु उसके परीषह का निवारण करने के लिए, वह जागृत होकर आराधना में उत्साहित हो — ऐसा उपाय आदरपूर्वक करते हैं।

जिस प्रकार रणक्षेत्र में अभेद्य कवच पहनकर प्रवेश करनेवाला सुभट-योद्धा शत्रुओं के बाण से नहीं छिदता; उसी प्रकार संन्यास के अवसर में आराधना में सुभट साधु, कर्मोदय के विरुद्ध चल रहे महासंग्राम में गुरु-उपदेशरूपी अभेद्य कवच धारण करते हैं, अत: वे रोगादिक की तीव्र पीड़ारूप शस्त्र द्वारा नहीं छिदते।

क्षपक को आराधना में उत्साहित करने के लिए महा बुद्धिमान गुरु उपदेश-वचन कहते हैं। **कैसे वचन कहते हैं ?** - स्नेहपूर्ण, कर्णप्रिय एवं आनन्दकारी वचन कहते हैं, जिन्हें सुनते ही सर्व दु:खों का विस्मरण हो जाए और सीधे हृदय में उतर जाएँ।

वे कहते हैं —

''हे सुन्दर चारित्रधारक मुनि! चारित्र में विघ्न करनेवाली इस अल्प या महान व्याधि की प्रबल वेदना को तुम दीनतारहित तथा मोहरहित होकर धैर्यपूर्वक जीतो। समस्त उपसर्ग-परीषह

को मन-वचन-काया से जीतकर, मरण समय में चारों प्रकार की सम्यक् आराधना के आराधक रहो।

रोगादिक व्याधियाँ अशुभकर्म के उदय से आती हैं; इस समय दीन होकर वर्तन करोगे या धैर्य छोड़ दोगे तो उससे कहीं तुम्हारा उपद्रव दूर होनेवाला नहीं है। अपने ही पूर्व परिणामों द्वारा उत्पन्न अशुभकर्म को दूर करने के लिए कोई देव भी समर्थ नहीं है; इसलिए रोगादि प्रतिकूलता आने पर कायरता छोड़कर, महान धैर्यपूर्वक, क्लेश माने बिना उसे भोगना ही श्रेष्ठ है, जिससे आराधना में भङ्ग न पड़े और पूर्वकर्म की निर्जरा हो तथा नवीन कर्म न बँधे।

हे चारित्रधारी! चार प्रकार के संघ के समक्ष तुमने ऐसी प्रतिज्ञा ली थी कि 'मैं भगवती आराधना (दीक्षा) धारण करता हूँ' - उसे क्या तुम भूल गये हो ? अपनी उस प्रतिज्ञा को याद करो! क्या युद्ध का आह्वान करनेवाला शूरवीर, शत्रु को देखकर भयभीत होकर भागता है ? - कदापि नहीं। उसी प्रकार सर्व संघ के समक्ष जिन्होंने आराधना की दृढ़ प्रतिज्ञा की है — ऐसे उत्तम साधु, परीषहरूपी शत्रु को देखकर मुनिधर्म से क्यों चलायमान होंगे ? विषाद क्यों करेंगे ? — नहीं करेंगे। मरण आये तो भले आये, परन्तु शूरवीर साधु आपत्तियों की अत्यन्त तीव्र वेदना को भी समभावपूर्वक सहन करता है, परिणामों को विकृत नहीं होने देता, कायरता या दीनता प्रगट नहीं करता।

अहा! जिनेन्द्र भगवान द्वारा आदरणीय ऐसी उत्कृष्ट आराधना को तुमने धारण किया है, अनन्तभव में दुर्लभ ऐसा संयम, वीतरागी

गुरुओं के प्रसाद से प्राप्त हुआ है तो अब जो रोगादिजनित उपसर्ग आया है, उसमें मरण हो तो भले हो, परन्तु आराधना को छोड़ना योग्य नहीं है। एक बार मरना तो है ही, तो फिर गुरु के प्रताप से व्रतसहित मरण हो, उसके समान अन्य कोई कल्याण नहीं है।

अरे! ऐसे अवसर में कायर होकर, व्रतादि में शिथिल होकर, विलाप करना या तुच्छ कार्य द्वारा रोगादि के इलाज की इच्छा करना तो लज्जा और दुर्गति के दुःखों का कारण है तो ऐसा कौन करे? एक जीवन के लिए मुनिधर्म को या संघ को कलङ्क कौन लगाये? चाहे जैसी प्रतिकूलता आये, परन्तु शूरवीर पुरुष आराधना से विमुख नहीं होते, दीनता या कायरता नहीं करते।

जैसे - कोई पुरुष चारों ओर से अग्नि द्वारा दग्ध होते हुए भी, मानो शीतल जल के बीच खड़ा हो - ऐसे शान्त-निराकुल रहता है, उसी प्रकार धीर-वीर साधुजन अग्नि के बीच भी निराकुलरूप से आराधना में स्थिर रहते हैं। अरे! स्वर्गादि परलोकसम्बन्धी इन्द्रियसुख में लुब्ध अज्ञानी भी जब इन्द्रियसुख की अभिलाषा से संसारवर्द्धक लेश्यापूर्वक तीव्र वेदना सहन करते हैं तो जिन्होंने समस्त संसार को अत्यन्त दुःखरूप जाना है और जो संसार-दुःख से छूटकर मोक्ष-सुख को साधने में तत्पर हैं — ऐसे जैन मुनि क्या निराकुलरूप से वेदना में धैर्य धारण नहीं करेंगे? — अवश्य करेंगे।

अरे! चाहे जैसा रोग आये, तथापि उत्तम पुरुष, अयोग्य (अभक्ष्य मिश्रित) औषधि का भक्षण नहीं करते। छोटी-बड़ी आपत्ति आने पर जो विषाद करता है, उसे वीर पुरुष कायर कहते हैं। धैर्यवान सत्पुरुषों का तो ऐसा स्वभाव है

कि महान आपत्ति आने पर भी उनके परिणाम सागर की भाँति अक्षोभ तथा मेरु के समान अचल रहते हैं।

जिन्होंने समस्त परिग्रह छोड़कर, अपने आत्मा को आत्मस्वरूप में ही स्थिर किया है और श्रुतज्ञान जिनका सहचर है – ऐसे उत्तम साधु को शेर फाड़ रहा हो, तथापि वे श्रेष्ठ रत्नत्रय की साधना करते हैं, कायर बनकर शिथिल नहीं होते।''

धीर-वीर मुनिराजों के उदाहरण

✦ नवदीक्षित सुकुमाल मुनि को स्यालनी और उसके बच्चों द्वारा लगातार तीन रात तक भक्षण किये जाने पर जिनके शरीर में घोर वेदना उत्पन्न हुई, फिर भी वे ध्यान द्वारा आराधना को प्राप्त हुए।

✦ भगवान सुकौशल मुनि को उनकी माता ने शेरनी बनकर उनका भक्षण किया, तथापि वे उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए।

✦ एणिक पुत्र नामक साधु ने गङ्गा नदी के प्रवाह में बहते हुए भी निर्मोहरूप से चार आराधना प्राप्त करके समाधिमरण किया, परन्तु कायरता नहीं की; इसलिए हे कल्याण के अर्थी साधु! तुम्हें भी धैर्य धारण करके आत्महित में सावधान रहना उचित है।

✦ भद्रबाहु मुनिराज घोर क्षुधा-वेदना से पीड़ित होने पर भी संक्लेश-रहित बुद्धि का अवलम्बन करते हुए, अल्पाहार नामक तप को धारण करके उत्तम स्थान को प्राप्त हुए,

परन्तु भोजन की इच्छा नहीं की।

✦ सिर पर अग्नि से तप्तायमान सिगड़ी जलने पर भी भगवान गजकुमार मुनि उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए।

✦ कौशाम्बी नगरी में ललित-घटादि बत्तीस प्रसिद्ध महामुनि, नदी के प्रवाह में डूबने पर भी निर्मोहरूप से प्रायोपगमन संन्यास को धारण करके आराधना को प्राप्त हुए।

✦ चम्पानगरी के बाहर गङ्गा के किनारे धर्मघोष नामक महामुनि, एक मास का उपवास धारण करके असह्य तृषा की वेदना होने पर भी संक्लेशरहित उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए, आराधनासहित समाधिमरण किया, तृषा की वेदना से पानी की इच्छा नहीं की, संयम से नहीं डिगे; बल्कि धैर्य धारण करके आत्मकल्याण किया।

✦ श्रीदत्त मुनि को पूर्वजन्म के वैरी देव ने विक्रिया द्वारा घोर शीतवेदना की, तथापि वे संक्लेश किये बिना उत्तमस्थान को प्राप्त हुए।

✦ वृषभसेन नामक मुनि, उष्ण वायु, उष्ण शिलातल तथा सूर्य का तीव्र आतप संक्लेशरहित होकर सहन करके उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए।

✦ रोहेडग नगरी में अग्निपुत्र नामक मुनि का क्रौंच नामक शत्रु ने शक्ति-आयुध द्वारा घात कर दिया, तथापि उस वेदना को समतापूर्वक सहन करके, वे उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए।

✦ चण्डवेग नामक शत्रु ने काकंदी नगरी में अभयघोष मुनि के सर्व अङ्ग छेद डाले; उस घोर वेदना को पाकर भी वे उत्तम अर्थस्वरूप अभेद रत्नत्रय को प्राप्त हुए।

✦ विद्युत्चर मुनि, डाँस-मच्छर द्वारा भक्षण की अतिघोर वेदना को संक्लेशरहित होकर सहन करके उत्तम अर्थरूप आत्मकल्याण को प्राप्त हुए।

✦ हस्तिनापुर के गुरुदत्त मुनि, द्रोणागिरि पर्वत पर, हण्डी के अनाज की भाँति दग्ध होने पर भी उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए।

✦ चिलातपुत्र नामक मुनि को किसी पूर्वभव के शत्रु ने तीक्ष्ण आयुध द्वारा घाव कर दिया, उस घाव में बड़े-बड़े कीड़े पड़ गये और उन कीड़ों से उनका शरीर चलनी की भाँति बिंध गया; तथापि वे संक्लेशरहित समभाव से वेदना सहन करके उत्तमार्थ को प्राप्त हुए।

✦ यमुनावक्र के तीक्ष्ण बाणों द्वारा जिनका शरीर छिद गया है — ऐसे दण्ड मुनिराज, घोर वेदना को भी समभाव से सहन करके उत्तमार्थरूप आराधना को प्राप्त हुए।

✦ कुम्भकार नगरी में कोल्हू में पिलने पर भी अभिनन्दनादि पाँच सौ मुनि समभावपूर्वक आराधना को प्राप्त हुए।

✦ सुबन्धु नामक शत्रु ने गौशाला में आग लगा दी; उसमें जलने पर भी चाणक्य मुनिराज, प्रायोपगमन संन्यास धारण करके संक्लेशरहित उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए।

✦ कुलालग्राम के उद्यान में रिष्टामच्य नामक शत्रु ने मुनियों के निवासस्थान को आग लगा दी; उसमें दग्ध होने

पर भी मुनियों की सभासहित वृषभसेन मुनिराज ने आराधना प्राप्त की।

इस प्रकार उपसर्गादि वेदना प्रसङ्ग आने पर भी आराधना में अडिग रहनेवाले अनेक शूरवीर मुनिवरों का स्मरण कराके, आचार्य महाराज उन क्षपक मुनि को प्रोत्साहित करते हुए कहते हैं —

''हे मुनि! इतने-इतने मुनिवरों ने घोर उपसर्गों की तीव्रवेदना सहन की; वे असहाय एकाकी थे; कोई इलाज करनेवाला या वैयावृत्य करनेवाला भी नहीं था; तथापि कायरता छोड़कर वीरतापूर्वक परम धैर्य धारण करके वे उत्तम अर्थ को प्राप्त हुए, आराधना से नहीं डिगे तो फिर तुम्हारी सहायता में तो ये सब मुनि हैं, सब संघ तुम्हारे इलाज और वैयावृत्य में तत्पर है तो तुम आराधना में उत्साहित क्यों नहीं होते? — कायरता छोड़ो और वीरतापूर्वक आराधना में उद्यमी बनो... यह आराधना का अवसर है।''

अहा! अनेक घोरातिघोर उपसर्ग आने पर भी उन मुनियों ने अकेले उन्हें सहन किया, परन्तु साम्यभाव को नहीं छोड़ा; प्राणरहित हुए, परन्तु आराधना में शिथिल नहीं हुए और आत्मकल्याण किया।

हे मुनि! तुम्हें तो महान ज्ञानी, दयावान, धैर्यवान, आचार्यादि परमहितोपदेश सुना रहे हैं, शरीर की वैयावृत्य करने में सावधान हैं और सर्वसंघ योग्य इलाज करने में तत्पर है, सहायक है। तुम्हें तो ऐसा कोई तीव्र उपसर्ग भी नहीं आया है; अत: ऐसे अवसर पर उत्तम आराधना में तुम क्यों शिथिल होते हो? इस

समय तो आत्मा को उत्साहित करना योग्य है; इसलिए कायरता छोड़ो और वीतरागता अङ्गीकार करो!

हे मुनि! सर्वसंघ के बीच जिनेन्द्रदेव के अमृतरूप मधुर वचन तुम्हारे कानों में पड़े हैं; उन्हें सुनकर अब तुम उत्तम अर्थरूप चार आराधनाओं का आराधन करने में समर्थ होओ। जिनेन्द्र भगवान के वचनों का श्रवण तो अमृत अर्थात् मोक्ष के आत्मिक सुख का साक्षात् अनुभव कराता है और मोक्ष प्रदान करता है; इसलिए जिनवचन अमृतसमान मिष्ट हैं — ऐसे जिनवचन जिसके कर्ण द्वारा हृदय में प्रविष्ट हों, वह पुरुष चारों आराधनारूप से परिणमित होने में असमर्थ क्यों होगा?

अरे क्षपक! यहाँ तुम्हें ऐसा क्या दु:ख आ पड़ा है कि जिससे तुम शिथिल हुए जा रहे हो? इस संसार में परिभ्रमण करते हुए तुमने नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति तथा देवगति में जो दु:ख भोगे, उन्हें याद करके जरा विचार तो करो! ऐसा कोई दु:ख शेष नहीं रहा कि जो तुमने संसार में नहीं भोगा हो? अनन्तबार अग्नि में जले; अनन्तबार पानी में डूब गये; अनन्तबार पहाड़ से गिरकर मरे; अनन्तबार शस्त्रों से छिद गये; अनन्तबार कोल्हू में पिले; अनन्तबार सिंह द्वारा खाये गए; अनन्तबार चक्की में पीसे गये... क्या यह सब तुम भूल गये?

तुमने अनन्तबार भूख की तीव्र वेदना से प्राण छोड़े; अनन्तबार प्यास से मरे; सर्दी, गर्मी, वर्षा, आँधी, विष-भक्षण एवं तीव्र रोगों की वेदना से अनन्तबार मरे; अपनी स्त्री, पुत्र, मित्रादि बन्धुजनों द्वारा भी अनन्तबार मारे गये; अत: अब समाधि के इस अवसर पर मृत्यु या वेदना से भयभीत होकर रत्नत्रय को बिगाड़ना

उचित नहीं है। तीव्र दु:ख में अनन्तकाल बिताया; अत: वर्तमान में यह थोड़ी सी वेदना आने पर परमधर्म में शिथिल होना उचित नहीं है, इसलिए अब उत्साहित होकर वीतरागभाव से आराधना में शूरवीर बनो!'

— ऐसे उपदेशरूपी कवच द्वारा आचार्य, क्षपकमुनि को आराधना में जागृत करते हैं। क्षपकमुनि भी सावधान होकर, वेदना को भूलकर, चैतन्य के वीतरागी शान्तरस के वेदन में तत्पर होते हैं और उत्तम आराधना में अचल रहते हैं।

हे मुनि! नरक में परवशरूप से असह्य शीत-उष्णता असंख्य वर्षों तक सहन की तो इस मनुष्य-जन्म में धर्म के धारक जीव को क्या यहाँ की शीत-उष्णता स्ववशरूप से सहन करना योग्य नहीं है? यह तो समभाव से परीषह सहन करने का अवसर है; इसलिए परमधैर्य धारण करो! धैर्यपूर्वक सहन नहीं किया और आकुलता की तो भी कर्म नहीं छोड़ेंगे; इसलिए अल्पकाल की अल्पवेदना से कायर होकर धर्म को न बिगाड़ो। नरक की वेदनाओं के सामने यह वेदना किस गिनती में है? — जिससे तुम कायर बन रहे हो?

अरे! नरक में जब ताँबे का धधकता हुआ लाल रस तुम्हारा मुँह फाड़कर पिलाया गया, उस समय की वेदना का विचार तो करो! उस वेदना के निकट यह प्यास की वेदना किस गिनती में है? — जो तुम पानी को याद करते हो! इसके बदले अन्तर में निर्विकल्प चैतन्यरस का स्मरण करो... इतना पानी पीने पर भी जो तृषा शान्त न हुई, उस तृषा को चैतन्यरस के उपशान्त पेय द्वारा तृप्त करो!

रे जीव! नरकगति की भाँति चारों गतियों में शरीर सम्बन्धी, मन सम्बन्धी, मान-अपमान तथा इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि सम्बन्धी जो तीव्र दु:ख अनन्तबार भोगे हैं, उनका चिन्तवन करो। यहाँ संन्यास-समाधिमरण के अवसर में उत्पन्न वेदना का तो क्या दु:ख है? इस समय तो समभाव द्वारा परीषह सहन करके सर्वदु:खों का अभाव करने का अवसर है; इसलिए कायरता छोड़ो और परम धैर्यपूर्वक परिषहों को जीतकर सकल कल्याण को प्राप्त करो! यह कर्म को जीतने का अवसर है, इस समय अचेत रहना योग्य नहीं है।

हे मुनिवर! पूर्वकाल में चार गतियों के परिभ्रमण में जो अनन्त दु:ख इस जीव ने भोगे हैं, उसके अनन्तवें भाग दु:ख भी वर्तमान में तुम्हें नहीं है, तो फिर कायर होकर तुम धर्म को मलिन क्यों करते हो? पूर्व असंख्यातकाल तक निरन्तर दु:ख सहन किये तो अब इस समाधिमरण के अवसर पर अल्पकालीन रोगादिजनित दु:ख क्यों सहन नहीं करते? धैर्यपूर्वक वेदना सहन करके आत्मा का कल्याण करो! पूर्वकाल में तो परवशरूप से चार गतियों की वेदना सहन की, तो इस अवसर में समभाव से वेदना सहन करने का धर्म जानकर आत्मवशरूप से उसे सहन करने में क्यों समर्थ नहीं होते?

हे मुनि! सर्व समुद्रों का जल भी जिसे उपशान्त न कर सके — ऐसी तीव्र तृषा का वेदन तुमने अनन्तबार किया तो इस समय निर्विकल्प शान्त चैतन्यरस पीने के अवसर पर उस जल को क्यों याद करते हो? आत्मा को स्वानुभूति के आनन्दरस में निमग्न करके तृप्त करो!

अरे! समस्त पुद्गलकाय द्वारा जो क्षुधा शान्त न हो, ऐसी तीव्र क्षुधावेदना तुमने संसार में अनन्तबार सहन की है तो इस समाधि के अवसर पर उस पौद्गलिक आहार को क्यों याद करते हो? **तुम तो आनन्दभोजी हो,** अतीन्द्रिय आनन्द के भोजन द्वारा आत्मा को तृप्त करो! इस प्रकार घोर तृषा-क्षुधा को स्ववश से सहन करो, जिससे पुनः संसार की वेदना कभी प्राप्त न हो।

— इस प्रकार धर्मकथा के श्रवणरूप अमृतपान द्वारा, गुरु के उपदेशरूप भोजन द्वारा तथा ध्यानरूप औषधि द्वारा जीव तीव्रवेदना को भी सहन करने में समर्थ होता है।

हे मुनि! असाताकर्म का प्रबल उदय आने पर तुम भयसहित होओ या भयरहित होओ, इलाज करो या न करो, परन्तु वेदना से नहीं छूट सकते। पापकर्म के उदय में अत्यन्त शक्तिशाली औषधि भी वेदना का उपशम नहीं कर सकती; इसलिए उसके वेदन में ऐसा समभाव रखो कि जिससे नवीन कर्म का बन्ध न हो और पूर्वकर्म की निर्जरा हो जाए।

मोक्षाभिलाषी संयमीजनों का मरण हो तो भले हो, परन्तु वेदना का उपशमन करने के लिए अयोग्य द्रव्य का सेवन करना इष्ट नहीं है। मरण से तो एक जन्म का ही नाश होता है, परन्तु असंयम से तो अनेक भव नष्ट हो जाते हैं; इसलिए एक जन्म के थोड़े से जीवन के लिए संयम का नाश करना उचित नहीं है। असाता का उदय आया, उसे कौन रोक सकता है? — ऐसा जानकर, हे कल्याणार्थी जनों! अशुभकर्म की उदीरणा होने पर दुःख न करो! दुःखी होने से कहीं उदय तो मिटेगा नहीं, बल्कि पुनः असाताकर्म का बन्ध होगा।

विषाद, क्लेश या विलाप करने से तो कहीं वेदना का उपशमन नहीं होता, कर्म की निर्जरा भी नहीं होती; संक्लेश करने से वेदना में तो अन्तर नहीं पड़ता तथा अन्य भी कोई लाभ नहीं होता, मात्र आर्तध्यान होता है और दुष्कर्म बँधते हैं।

जिस प्रकार आकाश को मुक्का मारना निरर्थक है और तेल के लिए रेत को पेलना निरर्थक है; उसी प्रकार अशुभकर्म के उदय में विलाप या दीनता करना भी निरर्थक है, उससे दु:ख नहीं मिटता, किन्तु उलटा बढ़ता है और भविष्य में दु:ख के कारणरूप तीव्रकर्म बँधते हैं।

जिस प्रकार न्यायवान पुरुष, स्वयं लिया हुआ ऋण चुकाने में दु:खी नहीं होता, परन्तु ऋण से मुक्त होने का हर्ष मानता है; उसी प्रकार पूर्वकाल में स्वयं उपार्जित कर्म उदय में आने पर न्यायमार्गी ज्ञानीजन दु:खी नहीं होते, समभावपूर्वक सहन करके कर्म का ऋण चुकाने में वे आनन्द मानते हैं। यह वेदना किसी और की दी हुई नहीं है, किन्तु हमारे ही पूर्वकर्म का फल है — ऐसा जानकर समभाव रखो, दु:खी मत होओ!

अरे मुनि! पूर्वकाल में अन्य किसी को ऐसा दु:ख न आया हो और अकेले तुम्हें ही आया हो — ऐसा तो नहीं है; दु:ख तो संसार में सभी जीवों को आता है। पूर्वकर्म के उदय से दु:ख आने पर भी समभाव रखकर अनेक जीव मोक्ष में चले गये; इसलिए दु:ख में समभाव रखना योग्य है। कर्म से भिन्न अपने स्वरूप का स्मरण करके धैर्य धारण करने से वह दु:ख दूर हो जाता है और आराधना निर्विघ्न रहती है।

अरहन्त-सिद्ध भगवन्त और सर्वसंघ की साक्षीपूर्वक किये हुए प्रत्याख्यान का भङ्ग करने की अपेक्षा तो मरण श्रेष्ठ है; क्योंकि व्रत-भङ्ग से तो लोक में निन्दा होती है, मार्ग दूषित होता है, धर्म का अपवाद होता है और परलोक में भी जीव दीर्घकाल तक दु:खी होता है; इसलिए हे मुनि! पञ्च परमेष्ठी की साक्षीपूर्वक लिये हुए सल्लेखना व्रत को भङ्ग न करो! भले ही देह छूट जाए, परन्तु ऐसे दुर्लभ रत्नत्रय को प्राप्त करके अब उसे दूषित न करो।

इस समाधि के अवसर पर क्षुधा से पीड़ित होकर तुम आहार की वाञ्छा करते हो, किन्तु अरे मुनि! जहाँ आत्मिक सुखरस का स्वाद है, वहाँ आहारादि से विरक्ति हो जाती है। रसना-इन्द्रिय की लालसा से आहार में गृद्धता करके अभक्ष्य आहार करते हुए अनन्तकाल से जीव ने नरकादि चार गतियों में महादु:ख प्राप्त किया और तुम्हें इस समाधि के अवसर में अब भी आहार की लालसा नहीं छूटती तो तुम संसार में दु:खी होओगे।

तुम मानते हो कि 'आहार द्वारा क्षुधा की तृष्णा मिटाकर मैं तृप्त होऊँगा', परन्तु अनन्तकाल से आहार करने पर भी जीव को तृप्ति नहीं हुई। चक्रवर्ती के भोगोपभोग, कल्पवृक्ष के दिव्य आहार या असंख्यात वर्षों तक देवलोक के दिव्य अमृत के आहार से भी जिसे तृप्ति नहीं हुई, उसे इस तुच्छ अन्नादिक के भोजन से तृप्ति कैसे होगी? **जिस प्रकार अग्नि ईंधन द्वारा कभी उपशान्त नहीं होती, उसी प्रकार भोजन की लालसा से त्रस्त जीव, आहार द्वारा कभी तृप्त नहीं होता; इसलिए**

धैर्य धारण करके आहार की वाञ्छा छोड़ो और अन्तर में उपयोग लगाकर अतीन्द्रिय ज्ञान-आनन्द का स्वाधीन भोजन करो... उसके अनुभव से ही जीव को परम तृप्ति होगी।

जिसकी तृषा सागरों जल से भी शान्त नहीं हुई, उसकी तृषा पानी की एक बूँद से कैसे मिटेगी? अतीत काल में आहार के बहाने समस्त जाति के पुद्गलों का जीव ने भक्षण किया है तो भी क्षुधा नहीं मिटी, तो अब जो कण्ठगत प्राण हैं, वे किञ्चित् आहार से कैसे तृप्त होंगे? इसलिए इस पौद्गलिक आहार की अभिलाषा छोड़कर चैतन्य के सन्तोषरूप परम अमृत का आस्वादन करो। जो आहार अनन्तबार भोगा जा चुका है, उसका अब क्या आश्चर्य! पूर्व काल में नहीं भोगे हुए की अभिलाषा हो, वह तो ठीक, परन्तु ऐसा तो कोई आहार नहीं है, जो पूर्वकाल में अनेक बार न भोगा जा चुका हो। आहार की अतिगृद्धतावाला जीव अनेक प्रकार से आरम्भ करता है और आकुलता से दु:खी होता है। अरे, ऐसे कौन मुनि होंगे, जो आहार के अल्पकालिक स्वाद के लिए चैतन्य-स्वाद के दीर्घकालीन महान सुख से चलित हों!

हे मुनि! संसार में जितने भी शरीर सम्बन्धी या मन सम्बन्धी दु:ख इस जीव ने अनन्तबार प्राप्त किये, वे सब दु:ख शरीर में ममत्वरूप दोष के कारण ही पाये हैं। संसार में जितने दु:ख हैं, उन सबको शरीर सम्बन्धी ममत्व के कारण ही जीव भोगता है। अब भी यदि शरीर में ममत्वबुद्धि करोगे तो संसार-भ्रमण का महा दु:ख पाओगे। संसार में मरण के समान भय नहीं है और जन्म के समान दु:ख नहीं है; इसलिए जन्म-मरण से भरे हुए

शरीर का ममत्व छोड़ो! समाधिमरण के लिए शरीर की ममता छोड़कर चैतन्य के चिन्तन में चित्त को लगाओ।

'शरीर अन्य है, जीव अन्य है' — ऐसे निश्चयरूप बुद्धिवाले हे मुनि! अब तुम दुःख-भय-क्लेश करानेवाले इस शरीर का ममत्व न करो। शरीर पुद्गलमय है, आत्मा तो ज्ञाता है; शरीर मूर्त है आत्मा अमूर्त है; शरीर संयोगी-विनाशी है, आत्मा असंयोगी-अविनाशी है; शरीर अचेतन है, आत्मा चेतन है — इस प्रकार दोनों को प्रगटरूप से अत्यन्त भिन्न जानकर, शरीर से भिन्न आत्मा का अनुभव करते हुए तुम शरीर का ममत्व छोड़ो। शरीर की ममता महान दुःख उत्पन्न करनेवाली है, इसलिए ज्ञानभावना प्रगट करके शरीर की ममता करना योग्य नहीं है।

हे मुनिराज! रोगादि समस्त उपसर्ग-परीषह को निःसङ्गरूप से अकेले सहते हुए तुम संक्लेशरहित होकर मोह को जीत लो। जिस प्रकार कोई रत्नों से भरा हुआ जहाज पूरे समुद्र को पार करके, किनारे आकर प्रमाद के कारण डूब जाए; उसी प्रकार संसार-समुद्र के किनारे आयी हुई रत्नत्रय से भरी हुई साधुत्वरूपी अपनी नौका को हे मुनि! संक्लेश परिणाम द्वारा पुनः भवसमुद्र में डूबने नहीं देना। तीन लोक में सारभूत एवं उत्तम मोक्षसुख प्रदान करनेवाले, इस दुर्लभ साधुपने को आहार के अल्पसुख के लिए नष्ट न करो! अल्पकालीन जीवन शेष है, इसलिए आहारादि की वाञ्छा छोड़कर वीतरागता से परम संयम की भावना में दृढ़ रहो!

अहा! उपसर्ग और परीषह प्राप्त होने पर भी जिनका धैर्य नहीं छूटा, ऐसे धीर-वीर पुरुषों द्वारा उपदेशित और सन्त पुरुषों द्वारा सेवित — ऐसा यह महापवित्र रत्नत्रयमार्ग, उस मार्ग को प्राप्त करके धन्यपुरुष आहार-शरीरादि की वाञ्छा से रहित होते हुए समाधि प्राप्त करके शुद्ध होते हैं; आराधना द्वारा उनके संसार का अन्त होता है। इसलिए हे कल्याणार्थी मुनिराज! इस कलेवर-कुटीर को अत्यन्त त्यागने योग्य जानो! और यह शरीर-कलेवर हमारा नहीं है — इस प्रकार ममतारहित होकर रत्नत्रय में स्थिर रहो। कर्म के फल में उदासीन रहकर वेदना को दुःखरहित सहन करना योग्य है।

इस प्रकार निर्यापक आचार्य के वीतरागतापूर्ण उपदेश द्वारा, जिनका भेदविज्ञान जागृत हुआ है — ऐसे वे क्षपकमुनि संक्लेश से निवृत्त होते हैं, रत्नत्रय में उत्साहित होते हैं और जिस प्रकार अन्य शरीर में उत्पन्न दुःख का वेदन अपने को नहीं होता, उसी प्रकार इस शरीर में उत्पन्न दुःख को भी अपने से भिन्न देखते हैं; भिन्न चैतन्य की भावना से स्वयं अपनी आराधना में अचल रहते हैं और कवच धारण किये हुए योद्धा की भाँति शूरवीरतापूर्वक विचार करते हैं —

'अहा, मेरी धीरता देखने तथा मुझमें आराधना का उत्साह जागृत करने के लिए यह महान ऋद्धिवान वीतराग मुनि मेरे पास आये हैं; अब उनके समक्ष प्राण छूटें तो भले छूटें, परन्तु धैर्य छोड़कर व्रतभङ्ग द्वारा मैं धर्म को लज्जित नहीं करूँगा।'

इस प्रकार उत्तम पुरुषों के संसर्ग से कायर भी धैर्यरूप कवच धारण करके कर्म से युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता

है। अभेद्य कवच के समान इस वीतरागी उपदेश को हृदय में धारण करनेवाला पुरुष अवश्य कर्मशत्रु को जीत लेता है। अत: वीतरागी वचनरूपी कवच से सहित हुए क्षपकमुनि परीषहरूपी शत्रुओं से अभेद्य रहकर आत्मध्यान करने में समर्थ होते हैं।

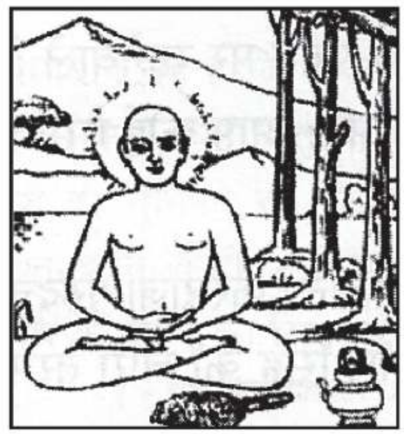

अहो! वीतरागी गुरु द्वारा पहिनाये गये कवच-बख्तर के प्रभाव से क्षपकमुनि, क्षुधा-तृषा-रोगवेदना आदि परीषहों को संक्लेश के बिना, परम समताभाव से सहन करते हैं और शरीर में, क्षेत्र में, सकलसंघ में, वैयावृत्य करनेवालों में तथा समस्त क्षेत्र-कालादि में राग-द्वेषरहित वर्तते हुए, कहीं भी परिणाम को बाँधे बिना परम समताभाव को प्राप्त करते हैं।

संसार में जितनी वस्तुएँ ग्रहण की जाती हैं, वे सब मुझसे अन्य हैं, मेरा कुछ भी नहीं है — इस प्रकार सर्वत्र निर्ममत्वभाव द्वारा वह जीव समभाव को प्राप्त होता है। कवच द्वारा धीरता धारण करनेवाले वे साधु किसी भी संयोग में रति-अरति नहीं करते; इष्ट वस्तु के संयोग में उत्सुकता या हर्ष और अनिष्ट वस्तु के संयोग में दीनता या विषाद नहीं करते। मित्र-स्वजन-शिष्य-साधर्मी सबके प्रति राग-द्वेष छोड़ते हैं।

वीतरागी कवच द्वारा जिनका मन आराधना में दृढ़ हुआ है — ऐसे वे साधु स्वर्गादिक के भोग की भी वाञ्छा नहीं करते। रत्नत्रयमार्ग की विराधना के बिना दृढ़ता से आराधना में

तत्पर रहते हैं; जीवन-मरण या मान-अपमान में वे समभावी रहते हैं।

इस जगत में जितने इन्द्रिय-विषय हैं, वे तो सब पुद्गल की पर्यायें हैं और मुझ ज्ञानानन्दस्वरूप से वे भिन्न हैं तो फिर मैं किसमें राग-द्वेष करूँ? इस प्रकार सर्वत्र राग-द्वेष रहित होकर वे साधु उत्तमार्थ ऐसी आराधना में वर्तते हैं। मरणपर्यन्त चाहे जैसी असाता हो, तथापि निर्मोहरूप से वे समभाव में वर्तते हैं।

इस प्रकार आचार्य के समक्ष जिन्होंने उत्तम प्रकार से आत्मा को भाया है — ऐसे वे क्षपकमुनि खेदरहित शूरवीरता से परम रत्नत्रय में आरूढ़ होकर चैतन्य में ही चित्त की एकाग्रता धारण करके समाधिमरण करते हैं।

नमस्कार हो ऐसे समाधिमरण के आराधक मुनि भगवन्तों को!

(ब्रह्मचारी हरिलाल जैन, आत्मधर्म, वर्ष २७, अङ्क ११-१२)

मुनिदशा में वस्त्र एवं राग का उसके अभाव

प्रश्न – मुनिराज मूर्च्छा के बिना वस्त्र रखें तो क्या क्षति है।

उत्तर – मुनिराज को शरीर के अतिरिक्त किसी भी संयोग के प्रति मूर्च्छा नहीं होती। केवलज्ञान प्राप्त करने की योग्यतावाले मुनि, जो पल में सातवीं व पल में छठवीं भूमिका में झूलते हैं, आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में झूलते हैं; उन्हें वस्त्र रखने के रागवाली दशा नहीं होती। रागवाली दशा को चारित्र मानना, हिंसा है।

(- परमागमसार, 806)